हेमचन्द्र-मोदी-पुस्तकमाला

द्वितीय पुष्प

हिन्दू धर्मकी समीक्षा

मूल लेखक

तर्कतीर्थ पं० लक्ष्मणशास्त्री जोशी

अनुवादकर्त्ता

नाथूराम प्रेमी

सर्वोदय साहित्य मन्दिर

हुसेनीअलम रोड, हैदराबाद (दक्षिण).

सोल एजेण्ट

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी
हेमचन्द्र-मोदी-पुस्तकमाला
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई ४

पहली बार
दिसम्बर, १९४८

मुद्रक
रघुनाथ दिपाजी देसाई
न्यू भारत प्रिन्टिंग प्रेस,
६, केळेवाडी, बम्बई नं. ४

निवेदन

(अनुवादकर्त्ताकी ओरसे)

'हिन्दू-धर्मकी समीक्षा' का हिन्दी अनुवाद मेरे अनुरोधसे डॉ० नारायण विष्णु जोशीने करना शुरू किया था। कुछ अंशका अनुवाद हो भी गया था* परन्तु जब मालूम हुआ कि इसका अनुवाद हो चुका है और उसे स्वयं पं० लक्ष्मणशास्त्री जोशी प्रकाशित करनेवाले हैं तब डा० सा०को रोक देना पड़ा।

परन्तु मैंने इसके प्रकाशनकी आशा नहीं छोड़ी और इस दिशामें प्रयत्न करता रहा। आखिर शास्त्रीजीने स्वयं प्रकाशित करनेका विचार छोड़ दिया और मुझे अनुमति दे दी। साथ ही अपना कराया हुआ अनुवाद भी मेरे पास भेज दिया।

जिन सज्जनने उक्त अनुवाद किया था वे दक्षिणके ही रहनेवाले मराठी-भाषी हैं, इसलिए उसमें मराठीपन अत्यधिक मात्रामें मौजूद है। उसका संशोधन करना भी नये अनुवाद करनेसे कम कठिन नहीं था, इसलिए उसे यों ही छोड़ना पड़ा और चूँकि डा० जोशीसे छह सात महीने बीत जानेपर फिरसे अनुरोध करना ठीक न मालूम हुआ इसलिए अन्तमें यह स्वतंत्र अनुवाद मुझे ही करना पड़ा। यह जैसा कुछ बन पड़ा पाठकोंके सामने है।

इस कार्यमें मुझे अपने सहकारी पं० शंकरलालजी परीकसे काफी सहायता मिली है। वे इसे लिखते गये हैं और मैं बोलता गया हूँ। वाक्य-रचनामें जगह जगह उनकी सम्मतिसे लाभ भी उठाया गया है।

लखनऊ विश्व-विद्यालयके कुल-गुरु आचार्य नरेन्द्रदेवजीका मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जो उन्होंने अपना बहुमूल्य समय व्ययकर इस ग्रन्थको पढ़ा और फिर इसकी भूमिका लिख देनेकी कृपा की।

परम श्रद्धास्पद प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीका भी मैं विशेष आभारी हूँ जिन्होंने मेरे अनुरोधसे मूल पुस्तकको पूरा पढ़कर सुना और उसे इस पुस्तकमालामें प्रकाशित करनेके लिए उपयुक्त बतलाया।

१—१—४९

नाथूराम प्रेमी

---

* इस पुस्तकके प्रारंभके १२ पृष्ठ डॉ० सा०के ही अनुवाद किये हुए हैं।

पुस्तकमालाका परिचय

'हेमचन्द्र-मोदी पुस्तकमाला'के द्वितीय पुष्पके रूपमें यह पुस्तक पाठकोंके हाथमें जा रही है। हेमचन्द्र श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमीके इकलौते पुत्र थ। उनका तरुण अवस्थामें अचानक स्वर्गवास हो गया। प्रेमीजीने उनकी स्मृतिमें एक ऐसी पुस्तकमाला प्रकाशित करनेका निश्चय किया जो भाई हेमचन्द्रके मानसके अनुरूप हो। उनकी प्रकृति स्वतन्त्र विचार-प्रधान और चिकित्सा-प्रधान थी। विविध विषयोंके अध्ययनका और अनेक विषयोंपर लिखनेका-शौक़ भी उन्हें था, इसलिए उनकी स्मृतिमें निकाली जानेवाली पुस्तकमालाका स्वरूप भी वैसा ही पसन्द किया गया।

प्रेमीजीने इसके लिए दस हजार रुपये अलग निकाल रखे हैं और उनमें दो हजार रुपये और भी शामिल कर दिये गये हैं जो हेमचन्द्रकी स्वर्गवासिनी माता रमा बहिनकी स्मृतिमें निकाले गये थे और जिनसे एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जा चुका है। इस मालाकी पुस्तकें लागत मूल्यपर, और संभव हो तो उससे भी कम मूल्यपर, बेची जायँगी। वसूल होनेवाली रकममेंसे नई नई पुस्तकें प्रकाशित करने और हिन्दी पाठकोंके समक्ष स्वतंत्र विचारसृष्टि और खोज उपस्थित करते रहनेका निश्चय किया गया है। पहली पुस्तक स्व० धर्मानन्दजी कोसम्बीकी लिखी हुई 'भारतीय संस्कृति और अहिंसा' प्रकाशित हो चुकी है और दूसरी यह 'हिन्दू धर्मकी समीक्षा' प्रकाशित हो रही है। इसके लेखक पं० लक्ष्मण शास्त्री तर्कतीर्थ हैं। शास्त्रीजीकी उक्त पुस्तक जितनी अध्ययन और चिन्तनपूर्ण है, उतनी ही समभावयुक्त निर्भयतासे लिखी गई है। इस तरह प्रस्तुत पुस्तकमालाने प्रारंभमें ही ऐसी पुस्तकें पसन्द की हैं जो हिन्दी जगतका ध्यान विशेषरूपसे आकृष्ट करेंगी और अनेक विषयोंपर चिन्तन-सामग्री उपस्थित करेंगी।

—सुखलाल

भूमिका

हिन्दू धर्मकी समीक्षा वैज्ञानिक दृष्टिसे अभी नहीं हुई है। हिन्दू धर्म कोई Creed नहीं है। अनेक प्रकारके आचार-विचारोंका इसमें समय समयपर समावेश होता रहा है। इसके अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय हैं और इसकी सामाजिक पद्धति भी जटिल है। इन विविध कारणोंसे 'हिन्दू' कौन है, इसकी व्याख्या करना भी एक दुष्कर कार्य है। मुझको स्मरण है कि सन् १९१० में प्रयागके 'लीडर' में इस विषयपर चर्चा हुई थी और इस सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंके मत प्रकाशित हुए थे। किन्तु इस चर्चाका निष्कर्ष यही निकला कि जिस प्रकार ब्रह्मके सम्बन्धमें 'नेति नेति' इतना ही कहा जा सकता है उसी प्रकार हिन्दू धर्मके सम्बन्धमें इतना ही कहा जा सकता है कि यह ईसाई धर्म नहीं है, इसलाम धर्म नहीं है, इत्यादि। किन्तु इसके स्वरूपका ऐसा वर्णन नहीं दिया जा सकता जो प्रत्येक हिन्दूको लागू हो। कहनेका आशय इतना ही है कि यह कार्य अत्यन्त कठिन है। इस कारण आलोचना तथा समीक्षाका कार्य अत्यन्त कठिन हो जाता है।

पश्चिममें जब भौगोलिक खोजके फलस्वरूप अनेक जातियोंका, विशेषकर आदिम जातियोंका, पता लगा तब उनके इतिहास, आचार, रस्म-रवाज़ तथा विचारोंका अध्ययन होने लगा। धीरे धीरे तुलनात्मक अध्ययन होने लगे और नये नये शास्त्रोंकी सृष्टि हुई। डारविनके विकासवादने पश्चिमकी विचार-धाराको अत्यन्त प्रभावित किया और विद्वान् इस तथ्यपर पहुँचे कि धर्म और संस्कृतियोंका भी क्रमिक विकास होता है। इनके पूर्व रूप इन आदिम जातियोंके आचार-विचारमें दिखाई पड़ने लगे। इसके अतिरिक्त प्राचीन धर्मोंका लम्बा इति-हास होनेके कारण इस विकासके क्रमका अध्ययन करनेके लिए प्रचुर सामग्री मिल जाती है। जब पश्चिमका भारतसे सम्बन्ध स्थापित हुआ तब योरपीय विद्वानोंने

हिन्दू धर्म तथा दर्शनका अध्ययन करना आरंभ किया। उसी समयसे हिन्दू धर्मकी थोड़ी बहुत आलोचना भी आरम्भ हुई। किसीने इसकी प्रशंसामें राग अलापने शुरू किये और किसीने इसकी घोर निन्दा की। किन्तु वैज्ञानिक पद्धतिके अनुसार समीक्षाका कार्य प्रारंभिक अवस्थामें ही रहा। भारतवासियोंपर भी पश्चिमी विज्ञान तथा संस्कृतिका प्रभाव पड़ा। जिस प्रकार पश्चिममें विज्ञानकी वृद्धिके युगमें विज्ञान और धर्मका परस्पर विरोध आरम्भ हुआ और धर्मको आत्म-रक्षाके लिए यह प्रमाणित और सिद्ध करनेकी चेष्टा करनी पड़ी कि धर्म विज्ञानसम्मत है उसी प्रकार हमारे देशमें भी अँग्रेजी शिक्षाके आरम्भ होनेके समय यह संघर्ष उपस्थित हुआ और अँग्रेजीशिक्षित हिन्दुओं और मुसलमानोंने अपने अपने धर्मकी रक्षाके लिए यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया कि हिन्दू और इसलाम धर्म विज्ञानविरुद्ध नहीं हैं। इस चेष्टाके फलस्वरूप धार्मिक सुधारके कई आन्दोलन प्रवर्तित हुए और आदि ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, देव-समाज, आर्य-समाज आदि संस्थाओंका जन्म हुआ। इनका कार्य धर्म-संशोधनका था और यह अपने विचारोंका आधार प्राचीन आर्य ग्रन्थोंको बताते थे। किसीने कतिपय ग्रन्थोंको मान्य और प्रामाणिक ठहराया और किसीने प्राचीन ग्रन्थोंके नवीन भाष्य बना डाले।

यह सब प्रयत्न आत्म-रक्षाके प्रकार थे और शिक्षित समाजकी उन माँगोंको पूरा करनेके उपाय थे जो नवीन आवश्यकताओं, उद्देश्यों और दृष्टियोंका समर्थन अपने धार्मिक ग्रन्थोंमें ढूँढ़ते थे। विज्ञानके युगमें प्रत्येक धर्मको इन उपायोंका सहारा लेना पड़ा है। इससे धर्मोंमें सुधार तो हुआ है किन्तु समीक्षाका कार्य और बन्द हो गया है।

प्रत्येक जातिको मनुष्य और विश्वके प्रति एक दृष्टि-कोण रखना पड़ता है। समाजकी स्थिरताकी दृष्टिसे दो प्रकारके विश्वासोंकी सुगम प्रक्रियाके लिए प्रत्येक सामाजिक संगठनमें स्थान होना चाहिए। एक वह विश्वास हैं जो उस पद्धतिको उपयुक्त सिद्ध करते हैं। दूसरे वह आचार और व्यवहार हैं जो विविध अवस्थाओंमें समाजद्वारा उचित माने जाते हैं। जब तक यह आचार-विचार परस्पर अविरोधी नही होते और सामान्य रूपसे स्वीकृत नहीं होते तब तक समाजमें संघर्ष बना रहता है और उसकी राजनीतिक समस्याका भी कोई

सन्तोषप्रद हल नहीं मिलता। इस कारण जब इनमें विरोध उत्पन्न होने लगता है और समाजका ऐकमत्य नष्ट हो जाता है तब सामंजस्य स्थापित करनेकी चेष्टा प्रारम्भ हो जाती है।

नवीन परिस्थितियोंके उत्पन्न होनेपर यह विरोध उत्पन्न हुआ करता है। सामाजिक विकासकी प्रत्येक अवस्थाके आचार-विचार अपने हुआ करते हैं। हिन्दू आचार-विचार भी इस नियमके अपवाद नहीं रहे हैं। एक आचार जो एक कालमें सर्वमान्य था, दूसरे कालमें वही आचार निन्द्य और वर्ज्य ठहराया गया है। विचारशैलियाँ भी बदलती रही हैं; उपासनाओंमें भी विभेद और बहुलता होती रही है तथा अनेक दर्शनोंकी सृष्टि भी हुई है। देश-काल-भेदसे आचार-विचार बदलते रहते हैं, समाजको गति देनेवाला मूल तत्त्व यह है कि आर्थिक संगठनके बदलनेसे सामाजिक सम्बन्ध बदलते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि नवीन उद्देश्य और आकांक्षाओंका जन्म होता है। इनकी पूर्तिके लिए जीवनके नये मूल्योंको स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्योंके विश्वासमें परिवर्तन होता रहता है और इस परिवर्तनका सम्बन्ध सामाजिक विकाससे है।

मनुष्य प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेके लिए सदा प्रयत्नशील रहा है। मनुष्यकी क्रिया प्रकृति और भौतिक पदार्थोंपर होती है और उनकी क्रिया मनुष्यपर होती है। इस क्रिया-प्रतिक्रियाके फलस्वरूप मनुष्य और मानव लोक निरन्तर बदलते रहते हैं। विज्ञानके बलसे मनुष्यने प्रकृतिपर विजय प्राप्त की है। विज्ञानकी शिक्षा प्रसार होनेसे मनुष्यकी विचारशैली बदल रही है और जो आचार-विचार एक समय युक्ति-युक्त समझे जाते थे वह मिथ्या और अयुक्त ठहराये गये हैं। विज्ञानके आलोकमें सब विषयोंकी परीक्षा हो रही है और ज्ञानके क्षेत्रका विस्तार हो रहा है, अतः अनेक नवीन शास्त्रोंकी रचना हो रही है। धर्मोंके प्रभव और उनके विकासका इतिहास भी लिपिबद्ध हो रहा है।

जो सत्यान्वेषी हैं उन्हें इस विज्ञान-सम्मत आलोचनाशैलीका अध्ययन कर हिन्दू-धर्मकी समीक्षा करनी होगी। ग्रन्थकारने इस दिशामें अच्छा प्रयत्न किया है। आरम्भके अध्यायोंमें उन्होंने धार्मिक समीक्षाके सिद्धान्तोंका निरूपण किया है तथा धर्मोंकी उत्पत्तिपर प्रकाश डाला है। भूमिकाके रूपमें

यह विवेचन आवश्यक है। तदनन्तर उन्होंने हिन्दू-धर्मके लक्षणपर विचार किया है। हम ऊपर कह चुके हैं कि हिन्दू-धर्मकी व्याख्या करना एक दुष्कर कार्य है क्योंकि विविधताके कारण इन विविध रूपोंमें सामंजस्य नहीं है। अन्तमें ग्रन्थकारने हिन्दू-धर्मका एक ऐतिहासिक विवेचन दिया है और यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि किस प्रकार हिन्दू धर्मका विकास हुआ है। हिन्दू-धर्मकी समीक्षामें उसके मुख्य विचारोंका मूल्यांकन भी किया गया है। इस सम्बन्धमें लेखकने उपनिषदों और महाभारतके कतिपय विचारोंकी महत्ता बताई है। प्राचीनकालमें धर्म जीवनके सकल अगोंको व्याप्त करता था और इस प्रकार वह उन्नतिका एक अच्छा उपकरण था। जब धर्ममें जड़ता आ जाती थी और उसके विकासका क्रम रुक जाता था तब समाज भी जड़ और निश्चेष्ट हो जाता था और वही धर्म जो एक समय उन्नति और विकासमें सहायक था बाधक बन जाता था। प्रत्येक महान् धर्मका इतिहास यही बताता है। यह अवस्था प्रत्येक धर्ममें किसी न किसी समय अवश्य उत्पन्न हुई है। जब यह अवस्था उत्पन्न होती है तब वह धर्म प्रतिगामी हो जाता है और सुधारके प्रयत्न समाजमें होने लगते हैं। जब विज्ञानके द्वारा नये तथ्योंका उद्घाटन होता है और पुराने विश्वास मिथ्या प्रमाणित होते हैं तब धर्म और विज्ञानमें संघर्ष बढ़ जाता है। शिक्षित व्यक्ति इस संघर्षको शान्त करना चाहते हैं और एक सामंजस्यकी तलाश करते हैं। पुराने विचारों और विश्वासोंका प्रभाव इतना प्रबल होता है कि उनको छोड़ना एक शिक्षित व्यक्तिके लिए भी कठिन होता है। वह संस्थायें जिन्होंने उन विचारों और विश्वासोंको जन्म दिया था बदल जाती हैं पर वह विचार और विश्वास अपना प्रभाव देर तक बनाये रहते हैं। बहुत-से लोग इस संघर्षका परिहार इस प्रकार कर लेते हैं कि वह व्यवहारमें विज्ञानको स्वीकार करते हैं किन्तु धर्मको पारलौकिक कार्योंके लिए मान्यता देते हैं। इस प्रकार धर्मका प्रभाव क्षीण होने लगता है और उसका वह पुराना अधिकार कम हो जाता है। एक समय था जब सब प्रश्नोंका उत्तर धर्मसे मिलता था। किन्तु आज विज्ञान उसका साझीदार हो गया है। मनुष्य धर्म और विज्ञानमें समझौता करना चाहता है किन्तु यह हो नहीं पाता और न हो सकता है।

हिन्दू-धर्मका ऐतिहासिक विवेचन करनेके लिए सामग्री एकत्र हो रही है। इन सबका अध्ययन कर हिन्दू-धर्मके विविध अंगोंका इतिहास लिपिबद्ध होना चाहिए। किन्तु यह कार्य वैज्ञानिक पद्धतिसे होना चाहिए। पश्चिमके नवीन शास्त्रोंने समीक्षाके सिद्धान्त निरूपित किये हैं और विवेचनका प्रकार भी निश्चित किया है। भारतीय अध्ययन और अन्वेषणके फलस्वरूप इनमें और स्पष्टता आ सकती है। समाज-शास्त्रके लिए हमारे यहाँ प्रचुर सामग्री है और उसका पूरा उपयोग अभी तक नहीं हो पाया है। इस दिशामें अभी बहुत कुछ करना है। ग्रन्थकारने नवीन दृष्टिसे विषयका विवेचन किया है। उनका श्रम सराहनेके योग्य है। उनके सब विचारोंसे सहमत होना कठिन है। कुछ बातें ऐसी भी होंगी जिनके सम्बन्धमें विद्वानोंमें भी तीव्र मतभेद हो। किन्तु इससे प्रस्तुत पुस्तककी उपादेयता कम नहीं हो जाती, इसमें पाठकोंको विचार करनेके लिए प्रचुर सामग्री मिलेगी।

—नरेन्द्रदेव

ग्रन्थकर्त्ताका परिचय

इस ग्रन्थके लेखक पं० लक्ष्मणशास्त्री जोशी महाराष्ट्रके उच्चकोटिके विद्वानोंमेंसे एक हैं। आपका अध्ययन यद्यपि पुरानी प्रणालीसे हुआ है; परन्तु आधुनिक ज्ञान-विज्ञानसे भी आप अच्छी तरह परिचित हैं। जिस तरह संस्कृतके द्वारा न्यायशास्त्र, वेदान्त और धर्मशास्त्रोंपर आपने असाधारण अधिकार प्राप्त किया है, उसी तरह अँग्रेजीके द्वारा पाश्चात्य दर्शन, तर्क, इतिहास, समाजशास्त्र आदिका भी तलस्पर्शी ज्ञान आपको है। इसी बहुमुखी पाण्डित्यके कारण ही नागपुर विश्वविद्यालयद्वारा आप आमंत्रित हुए और एक बार तर्कशास्त्रपर अँग्रेजीमें और दूसरी बार हिन्दू धर्मकी समीक्षापर मराठीमें आपके व्याख्यान कराये गये।

महाराष्ट्रमें आप एक धर्मसुधारक और क्रान्तिकारीके रूपमें प्रसिद्ध हैं। दिवंगत महात्मा गाँधीने अस्पृश्यता-निवारक आन्दोलनके सिलसिलेमें सनातनी विद्वानोंसे शास्त्रार्थ करने और सुधार-सिद्धान्तका समर्थन करनेके लिए आपको ही प्रधान रूपसे चुना था। दक्षिणमें आप बुद्धिवादके बड़े भारी आधार-स्तंभ माने जाते हैं। महाराष्ट्रके साहित्य-क्षेत्रमें भी आपका स्थान बहुत ऊँचा है, जिससे आप अनेक साहित्य-सम्मेलनोंके सभापति रह चुके हैं। राजनीतिक क्षेत्रमें भी आपने बहुत काम किया है। कांग्रेस आन्दोलनके आप कई वर्षोंतक कुशल कर्णधार रहे हैं।

इस समय आप कृष्णानदीके किनारेपर स्थित 'वाई' नामक तीर्थस्थलपर निवास करते हैं और वहाँके सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्यालय 'प्राज्ञ पाठशाला'के प्रधान अध्यापक हैं। इसके सिवाय 'धर्म-कोश' के मुख्य सम्पादक भी आप हैं। यह कोश बीस जिल्दोंमें प्रकाशित होनेवाला है और अब तक इसकी चार बड़ी बड़ी जिल्दें प्रकाशित हो चुकी हैं। इसे हिन्दू-धर्मका 'विश्व-कोश' समझना चाहिए। इसमें हिन्दू धर्मके आधारभूत वचनों और भाष्य-टीकाओंका ऐतिहासिक क्रमसे संग्रह किया जा रहा है। वेदोंसे लेकर १८ वीं शताब्दितकके तमाम हिन्दू शास्त्रोंके वचनोंका यह अपूर्व संग्रह भारतीय संस्कृति और धर्मके इतिहासके अध्ययनका एक महान् साधन होगा।

प्रास्ताविक

नागपुर विश्वविद्यालय और उसके कुलगुरु नाना साहब केदारका मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने मुझे हिन्दू-धर्म-समीक्षा-विषयक व्याख्यान देनेके लिए आमन्त्रित किया और फिर उन व्याख्यानोंको प्रकाशित भी कराया।

इन व्याख्यानोंमें हिन्दू धर्मकी समीक्षा ऐतिहासिक पद्धति और ऐतिहासिक समाजशास्त्रकी दृष्टिसे की गई है। इनमें हिन्दू-धर्मकी जो आलोचना की गई है, वह अनेक शिक्षितोंको जँचेगी नहीं; इतना ही नहीं बल्कि उन्हें ऐसा भी लगेगा कि यह एक नया पाखण्ड अथवा धर्म-विध्वंसक कार्य है। धर्म मानव-जातिके लिए अफीम है, इस प्रकारके विचारसे प्रेरित होकर यह समीक्षा नहीं की गई है। किन्तु इस समीक्षाके मूलमें यह प्रेरणा है कि धर्मकी समीक्षा ही सारी समीक्षाओंका सच्चा प्रारम्भ है। (The Criticism of religion is a beginning of all Criticism.—Karl Marx.)

पहले व्याख्यानमें आगेके दूसरे और तीसरे व्याख्यानके विचारोंकी आधारभूत विचार-सरणि रक्खी गई है। इसमें प्रत्यक्ष रूपसे हिन्दू धर्मकी समीक्षाका प्रारंभ नहीं किया गया है, इससे कुछ विषयान्तर-सा जरूर मालूम होगा। परन्तु आधुनिक समाज-शास्त्रकी और मानव-जाति-शास्त्रकी धर्म-मीमांसासे बहुत ही थोड़े लोग परिचित हैं, इस लिए अगले व्याख्यानोंके विचारों और उन विचारोंकी सामान्य भूमिकाको अच्छी तरह समझनेके लिए, दूरान्वय दोषका भागी बनकर भी, धर्म-समीक्षासम्बन्धी और धर्म-विकाससम्बन्धी सामान्य तत्त्व, समाजपरिवर्त्तनसम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त, संस्कृति-मीमांसा और मानवजाति-शास्त्रज्ञोंकी धर्मोपपत्तिको उपस्थित करना पड़ा है। अक्सर पंडितोंमें समाज-रचनाके नियमों, संस्कृति और धर्मको एकमेक कर डालनेकी आदत होती है। इसके कारण अनेक लेखक हिन्दू धर्मका विवेचन करते हुए गोटाला कर डालते हैं। इसलिए पहले व्याख्यानमें समाज-रचना, संस्कृति और धर्मके सम्बन्धोंका खुलासा करना पड़ा।

प्राचीन भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने धर्मकी व्याख्या और धर्म-ज्ञानके साधनोंकी जो अत्यन्त सूक्ष्म और मूलगामी चर्चा की है, उसकी समीक्षा दूसरे व्याख्यानमें की गई है। उसके साथ आधुनिक धर्म-व्याख्या और धर्मप्रमाणकी आधुनिक मीमांसा भी उपस्थित की है। हिन्दू तत्त्व-चिन्तकोंकी धर्म-व्याख्या और धर्म-प्रमाणसमीक्षाकी आलोचना ही हिन्दू धर्मकी समीक्षाका सच्चा प्रारम्भ है। इसलिए दूसरे व्याख्यानमें हिन्दू धर्मकी समीक्षाका प्रत्यक्ष प्रारंभ होता है।

तीसरे व्याख्यानमें हिन्दू धर्मके सामान्य और विशेष स्वरूपकी, अंगोपांगोंकी, विविध और विचित्र शाखोपशाखाओंकी, ऐतिहासिक क्रमकी और ऐतिहासिक कार्य-कारण-परम्पराकी चर्चा की है और हिन्दू समाज और हिन्दू धर्मका पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित किया है। चातुर्वर्ण्य और नवीन वंश-शास्त्रका क्या नाता-रिश्ता है, सो भी बतलाया है और हिन्दू धर्मके सुधारके नये प्रयत्नोंकी खबर ली गई है। अन्तमें इस बातकी चर्चा करके व्याख्यान समाप्त किया है कि आनेवाले समयमें सामाजिक प्रगतिके लिए धर्म-मूल्योंकी गरज है या नहीं।

हिन्दू धर्मकी आलोचना करना अनेक कारणोंसे बहुत ही उत्तरदायित्वका और कठिन काम है। पाश्चात्योंकी दासतामें फँस जानेके कारण भारतीय राष्ट्रवादकी दुरभिमान और अन्धश्रद्धामें परिणति हो गई है। इसलिए इन व्याख्यानोंके विचार अन्ध-श्रद्धालुओंको मर्मभेदक जान पड़ेंगे। हमारे शिक्षितोंमें स्वकीय संस्कृति, स्वकीय धार्मिक संस्था और स्वकीय समाजका इतिहास समीक्षक और चिकित्सक दृष्टिसे जाँच करनेका धैर्य ही नहीं रह गया है। वास्तवमें परम्पराके विरुद्ध विद्रोह करनेवाला बुद्धिवाद ही हमारे राष्ट्र और समाजमें उच्चतर स्थित्यन्तर उत्पन्न कर सकता है, जब कि पूर्व परम्पराका लँगड़ा समर्थन करनेवाली विचार-सरणिकी ही हमारे यहाँ पूजा हो रही है। बहुत ही थोड़े भारतीयोंमें इतना मानसिक बल बाकी रहा है जो परम्परागत मूल्योंकी जाँच करनेवाली, पुरानी संस्थाओं और पुराने आचार-विचारोंकी दया माया न रखकर शास्त्रीय रीतिसे छान-बीन करनेवाली, प्रचलित समाज-रचना और धर्मपर बौद्धिक आक्रमण करनेवाली और सामाजिक नवजीवनको जन्म देनेवाली समालोचनाको

सहन कर सके। जो पुराना जगत् गलेका टेंगुर बनकर मनुष्यकी प्रगतिमें रुकावट डाल रहा है, अनेक पुरोगामी तत्त्व-चिन्तक और कर्त्तृत्वशाली लोग उसका विनाश करनेवाले शास्त्ररूपी विचार-शस्त्र निर्माण करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। उन शस्त्रोंसे ही पुराने जगत्के साथ लड़ते लड़ते ऐसे एक नये जगत्को गढ़ना है जिसमें प्राचीन और वर्तमान समाजकी मानसिक और भौतिक गुलामीका कहीं पता भी न चले, सारे समाज-घटकोंको एक-सा स्वातन्त्र्य प्राप्त हो और उनके कर्त्तृत्वको पूर्ण विकासका अवसर मिले। उन कर्मठ लोगोंकी सेनामें भरती हुए एक साधारण सिपाहीके तुल्य ही इस व्याख्याताका दर्जा है। यह उन विचार-शस्त्रोंको गढ़नेवाला एक दृढ़निश्चयी कामगार है।

—**लक्ष्मणशास्त्री जोशी**

हिन्दू धर्मकी समीक्षा

पहला व्याख्यान

दूसरा व्याख्यान

धर्म-लक्षण और धर्म-प्रमाण

हिन्दू धर्मकी समीक्षा

पहला व्याख्यान

धर्म-समीक्षाकी भूमिका

हिन्दू-धर्मकी समीक्षाका प्रारंभ करनेके लिए सबसे पहले धर्म-समीक्षाकी सामान्य भूमिका तैयार करनी होगी। इस सामान्य भूमिकाके दो भाग हैं, एक ऐतिहासिक धर्म-समीक्षाकी सामान्य तत्त्व-प्रणाली और दूसरा धर्मोत्पत्तिकी आधुनिक उपपत्ति।

१ ऐतिहासिक धर्मसमीक्षाकी तत्त्वप्रणाली

इस तत्त्व-प्रणालीका संक्षिप्त सारः—

(अ) धर्म-समीक्षा मानव-इतिहास-शास्त्रकी ही एक शाखा है। इसलिए ऐतिहासिक धर्म-समीक्षाका उदय मानव-जाति-शास्त्रके उदयके साथ ही हुआ।

(आ) ऐतिहासिक विकास-क्रमकी संपूर्णतया तथा सामान्यरूपसे मीमांसा करनेके लिए प्रत्येक ऐतिहासिक घटनाकी अलग अलग विशेषरूपसे समीक्षा करनी पड़ती है,—यह है ऐतिहासिक पद्धतिका मूलभूत तंत्र। इस मूलभूत-तंत्रका अवलंबन करके ही धर्म-समीक्षा करनी होगी।

(इ) नई धर्म-समीक्षाके सामान्य तत्त्व ये हैं:—

(१) मानवके मनमेंसे ही धर्मका निर्माण तथा विकास हुआ है, अतः धर्म-समीक्षाका साधन मानव-बुद्धि (Reason) है।

(२) धर्मसम्बन्धी सत्यासत्य कल्पना, धर्म-प्रयोजन और धर्म-कल्पनाओं तथा धर्म-संस्थाओंका ऐतिहासिक कार्य-कारण भाव—ये तीन नई धर्म-समीक्षाके विषय हैं।

(३) समाजके विकासके साथ साथ धर्म भी विकसित होता है। समाज-संस्था और संस्कृति जिस प्रगति अथवा अवनतिकी विशिष्ट अवस्थामें होती है, उसी अवस्थाके अनुरूप धर्म-संस्था भी होती है।

(४) धर्म-विकासके मुख्य सूचक चिह्न दो हैं; एक तो तत्तत्कालीन विज्ञान और विज्ञानानुसारी संस्कृतिके साथ अविरोध और दूसरा विवक्षित काल-खंडमें विशिष्ट समाज अथवा जमातकी सामाजिक प्रगतिको प्रेरणा देनेवाली शक्ति उत्पन्न करनेकी क्षमता।

अंतमें, उपर्युक्त तत्त्वोंको समझनेके लिए संस्कृतिकी मीमांसा करनी होगी और समाज-परिवर्तनके शास्त्रके मुख्य तत्त्वोंका दिग्दर्शन करना होगा।

धर्म-समीक्षा इतिहास-दर्शनकी एक शाखा है

धर्म-समीक्षा सामाजिक तत्त्वज्ञानकी एक शाखा है*। क्योंकि धर्म एक सामाजिक वस्तु है। सामाजिकका अर्थ है समाजनिर्मित और समाजके इतिहासके साथ साथ जिसका इतिहास बनता है वह। सामाजिक तत्त्वज्ञानको इतिहासका तत्त्वज्ञान अथवा 'इतिहास-दर्शन' (Philosophy of History) कहते हैं। मानव-समाजकी घटनाओं और स्थित्यंतरोंकी समीक्षासे ही सामाजिक तत्त्व-ज्ञान अथवा इतिहास-दर्शनका निर्माण होता है। समस्त मानव-समाजके विभिन्न व्यापारों और संस्थाओंकी समालोचनाद्वारा जो सामान्य और विशेष सिद्धान्त और प्रमेय निष्पन्न होते हैं, उन सिद्धान्तों और प्रमेयोंकी सुसंगत रचना ही इतिहासका तत्त्वज्ञान है। धर्म-समीक्षा इतिहास-तत्त्वज्ञानकी ही एक कक्षा है। क्योंकि धर्मका इतिहास समाजके इतिहाससे संपूर्ण रूपसे जुड़ा होता है।

धर्मकी ऐतिहासिक समीक्षा

समाज एक इतिहास-बद्ध वस्तु है। अतः उसका प्रत्येक अंग इतिहास-बद्ध है। इतिहासकी प्रत्येक घटना कार्य-कारण-भावकी मालाकी एक कड़ी है। इस लिए उसकी जाँचकी जाती है। धर्मकी बात भी ऐसी ही है। धर्म भी अत्यंत प्राकृत हीन अवस्थासे लेकर अतिशय उच्च अवस्थातक विकसित ऐतिहासिक घटनाओंकी मालिका है। उन

---

* Studies in the Philosophy of Religion P. 6 by Pringle Pattison.

घटनाओंकी प्रत्येक विशिष्ट कड़ी ध्यानमें रख कर उसकी जानकारी कर लेनी पड़ती है। इसी जानकारीको धर्मकी ऐतिहासिक समीक्षा कहते हैं।

ऐतिहासिक धर्म-समीक्षाका उदय

ऐतिहासिक पद्धतिका अनुसरण करनेवाली धर्म-समीक्षाको पाश्चात्य पंडितोंने ईसवी सन्‌की अठारहवीं सदीमें शुरू किया। यूरोपीय लोगोंने जब जगत्‌की यात्राएँ कीं और पृथ्वीके समस्त पृष्ठभागपर अपना प्रभुत्व कायम करना शुरू किया, तब उन्होंने सारे मानवोंकी भूत एवं वर्तमान् संस्कृतिके अध्ययनके साधन इकठ्ठे किये। कालके गालमें गई नष्ट संस्कृतियोंके भूगर्भमें छिपे हुए अवशेष खोदकर निकालनेका भी आरंभ किया। आफ्रिका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, मलायाद्वीप आदि स्थानोंके मानव-समूहके सामाजिक जीवनका अध्ययन शुरू किया और मानवके इस इतिहासके अध्ययनका धर्माभ्यास एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया। धर्म-विकासकी विभिन्न अवस्थाओं तथा विभिन्न देश-कालकी परिस्थितियोंके विचित्र धार्मिक प्रकारोंका निरूपण एवं स्पष्टीकरण करनेवाले विशाल साहित्यका निर्माण हुआ। धर्मके इतिहासका ज्ञान हो जानेसे धर्मकी ऐतिहासिक समीक्षाका अथवा ऐतिहासिक दर्शनका उदय हुआ। धर्मके इतिहासकी घटनाओंकी ऐतिहासिक समीक्षा शुरू हुई। पहले पहल लेसिंग (Lessing) और हर्डर (Herder) ने 'मानववंशकी शिक्षा' (The Education of human race) नामक ग्रंथके द्वारा धर्म-समीक्षा (Philosophy of Religion) का आरंभ किया। इस ग्रंथमें विशेषकर यहूदी और क्रिश्चियन धर्मोंकी ही ऐतिहासिक समीक्षा मिलती है। बादमें हेगेल (Hegel) ने इतिहासका तत्त्वज्ञान लिखा और उसके द्वारा धर्मकी ऐतिहासिक समीक्षाको प्रौढ़ बनाया। हेगेलके बाद उन्नीसवीं सदीमें मानव-संस्कृतिके विद्वानोंने धर्म-संस्थाकी अत्यंत सूक्ष्म एवं विस्तृत चर्चाको शुरू किया। सर टायलर (Tylor)ने 'प्राथमिक संस्कृति' (Primitive culture) नामक ग्रंथमें प्रारंभिक बर्बर समाजसे लेकर आधुनिक सुधरे हुए समाज तकमें जो अलग अलग धर्मके रूप दिखाई देते हैं उनकी ऐतिहासिक जाँच पड़तालकी। इसके बाद सर फ्रेज़र (Sir James Frezer) ने 'सुवर्णमयी शाखा' (Golden Bough) नामक ग्रंथमें टायलरकी परंपराको कायम रखकर, धर्मकी चर्चामें अनेक प्रौढ सिद्धान्तोंका समावेश किया। इंग्लैंडमें उसी समय स्पेन्सरने

सामान्य धर्म-मूलकी चर्चा की। रॉबर्टसन् स्मिथने सेमाइट मानव-वंशकी अति प्राचीन धर्म-संस्थाके इतिहासका मनन लोगोंके सामने रखा। जर्मनीमें कांट, हेगेल, श्लीरमाखर, स्ट्रॉस, फायरबाख, मॅक्स वेबर; फ्रान्समें कोंट, डुरखीम, इंग्लैंडमें स्पेन्सर, टायलर, फ्रेझर, रॉबर्टसन् स्मिथ, मॅरेट, टॉनी आदि धर्म-मीमांसक उन्नीसवीं और बीसवीं सदीमें हुए। भारतीय धर्मोंका परिशीलन सर विलियम् जोन्स, झिमर, मेक्समूलर, हॉप्किन्स, कुंटे, भांडारकर, लो० तिलक आदि प्राच्यविद्याके अन्वेषकोंने किया। धर्म-समीक्षाकी यह सामग्री बहुत अधिक है। धर्मके इतिहासका अर्थ है विभिन्न देशकालों और विभिन्न मानव-समाजोंमें दिखलाई पड़नेवाले धर्म-रूपोंका कार्य-कारण-भावघटित निरूपण। इतिहासकी इस नीवपर * आधुनिक धर्म-मीमांसा अथवा धर्म-समीक्षाका निर्माण हुआ है।

ऐतिहासिक पद्धतिका मूलभूत तंत्र—विशेष परीक्षा

प्रत्येक धर्मका स्वरूप समाजकी विभिन्न ऐतिहासिक अवस्थाओंसे मिलता-जुलता होता है। उसकी यह विशेषता और उन समाज-संस्थाओंका प्रयोजन भिन्न भिन्न होता है। विशेषताका यह नियम इतिहासकी किसी भी शाखापर लागू होता है। समाज-संस्थाकी कला, साहित्य, रीति, नीति, धर्म, अर्थव्यवस्था, राज्य-पद्धति, शिक्षा, कानून, युद्ध-योजना, आदि संस्थाओंका द्विविध अध्ययन —सामान्य और विशेष—करना ज़रूरी होता है। मुख्यतः विशेष-स्वरूपकी परीक्षाके सिवाय उस संस्थाकी कार्य-पद्धति, परिणाम और प्रयोजनका ज्ञान होना असंभव होता है। सामाजिक शास्त्रका प्रत्येक प्रस्थान इसी प्रकारसे ढूँढ़ना पड़ता है। प्रत्येक सामाजिक संस्थाका, प्रत्येक विशिष्ट अवस्थामें बने हुए स्वरूपोंका, अलग अलग समालोचन करना पड़ता है और उसके अनुसार सिद्धान्त बनाने पड़ते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र इस बातका उत्तम उदाहरण है। एडम स्मिथ और रिकार्डोके अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त जितने अँग्रेजोंके उन्नतिशील प्रगमनशील पूँजीवादी आर्थिक युगको लागू होते हैं, उतने दूसरी जगह नहीं लागू होते। यह बात नीस, रोशर और मोलरने अच्छी तरहसे बतलाई है। रामायणका लंका-विजय, महाभारतका युद्ध, सिकंदरका दिग्विजय, रोमन लोगोंका फ़ौज़ी विस्तार, अरबोंका विश्व-विक्रम,

* Studies in the Philosophy of Religion P. 1

चंगेज़खाँका आक्रमण, पाश्चात्योंका विश्वविजय, सन् १९१८ का महायुद्ध और हालका जर्मन आक्रमण, इन सभीको युद्ध कहते हैं। किन्तु उक्त प्रत्येक घटनाका रहस्य और कार्य बिलकुल अलग अलग है। प्रत्येक युद्धके विशिष्ट स्वरूपका अध्ययन किये बिना उसकी कार्य-कारण-मीमांसा पूरी नहीं हो सकती; उसका शास्त्रीय अर्थ नहीं लग सकता; प्रत्येक ऐतिहासिक घटनाका स्वतंत्र महत्त्व होता है। विशेष परीक्षा ही इतिहास-मीमांसाका सच्चा आधार * है। विशेष परीक्षा ही ऐतिहासिक पद्धतिका मूलभूत तंत्र है। धर्मकी समीक्षा इसी तरहसे करना होगी।

मानवीय बुद्धि धर्म-समीक्षाके साधन

अमुक धर्म खरा है, और अमुक खोटा, इस प्रकारके श्रद्धालु लोगोंद्वारा माने गये दुनियाके धर्मोंके विभाग शास्त्रीय धर्म-समीक्षा नहीं मानती। कोई एक धर्म ही संपूर्ण सत्य है और दूसरा अधोगति अथवा पतनका मार्ग है, यह भावना हिन्दू, क्रिश्चियन, मुसलमान वगैरह धर्मोंके माननेवालोंमें मिलती है। इस भावनाको शास्त्रीय धर्म-समीक्षामें कोई स्थान नहीं। धर्म-समीक्षा तो प्रत्येक धर्मकी ओर केवल इसी दृष्टिसे देखती है कि वह कोई विशिष्ट ऐतिहासिक घटना है। क्योंकि धर्म-समीक्षा यह क़तई नहीं मानती कि अलौकिक साक्षात्कार और अलौकिक शब्द-प्रमाण ये धर्मके प्रमाण अथवा उसके मूल हैं। अलौकिक प्रमाणको यदि धर्मका मूल मान लिया गया, तो फिर धर्म समीक्षाके लिए बहुत थोड़ा अवकाश बच रहता है। समीक्षाका मतलब है बुद्धिकी सहायतासे बुद्धिवादके नियमोंका उपयोग करके जाँच पड़ताल करना। यदि एक बार अलौकिकको धर्म-मूल और धर्म प्रमाण मान लिया, तो फिर धर्मकी बौद्धिक जाँच-पड़ताल करना ही अशक्य हो जाता है; तब तो अलौकिक साक्षात्कारसे प्राप्त धर्मकी बुद्धिकी सहायतासे व्यवस्था लगाना, उसे ठीक ठाक प्रतिपादित करना, यही काम रह जाता है। वहाँ धर्मके सत्य स्वरूपका एवं प्रयोजनका निर्णय अलौकिक प्रमाण ही कर सकता है। जिसे अलौकिक साक्षात्कार हुआ है, उस

* The Historical Method in Social Science, pp. 27–33, by M. M. Postan.

पुरुषका शब्द ही ज्ञानका अंतिम साधन बन जाता है। जो धर्म-समीक्षा बुद्धिवाद-पर टिकी होती है उसको अलौकिक साक्षात्कार अथवा शब्द-प्रामाण्य मान्य नहीं होता, तो भी, वह धर्म-समीक्षाका एक विषय बन ही जाता है। आगे 'धर्म-प्रमाण' शीर्षकमें इस विषयकी जाँच पड़ताल की जायगी।

मानवी बुद्धि ही समीक्षाका मुख्य साधन है। क्योंकि धर्म विशिष्ट देश-काल-परिस्थितिमें मानवी-मनके द्वारा, यानी आदमियोंकी बुद्धि भावनाओं एवं आकांक्षाओंके द्वारा बनाया गया है। उसकी साधक बाधक प्रमाणोंद्वारा जाँच करना और धार्मिक श्रद्धा तथा कल्पनाकी शुद्धि करना ही समीक्षाका प्रयोजन है। यहाँ यह बात समझना गलत होगा कि समीक्षामेंसे कोई नया धर्म उत्पन्न होता है। कमसे कम इसके बाद वह नहीं होगा। क्योंकि धर्म-संस्थाओंके उत्पन्न होनेका युग अब बीत चुका है।

अठारहवीं सदीकी बुद्धिवादी अनैतिहासिक धर्म-समीक्षा

प्राचीन कालमें चार्वाकने जिस पद्धतिसे धर्मकी समीक्षा की थी, या यूरोप और अमेरिकामें अठारहवीं सदीमें वॉल्टेयर, थॉमस पेन, ईलिहु पामर, शेले, रॉबर्ट इंगरसोल, क्लॅरेन्स, दारो, दि आलेंबर्त आदिने जिस तरहसे धर्म-समीक्षा की, वह एकांगी थी। वे यह नहीं पहचान सके कि इतिहासमें धर्म-संस्थाका क्या महत्त्व है। वे धर्मोंके व्याघात, हेत्वाभास, भ्रांति, वंचना एवं टुच्चेपनको प्रकाशमें लाये। उन्होंने मानवके मानस-पटसे धर्म-कल्पनाओंकी पकड़ ढीली करनेकी भरसक कोशिश की। धर्म भ्रामक विचारोंकी और कुचले हुए जीवोंकी लम्बी काली रात है, यह कहकर उन्होंने जनताको सूर्य-प्रकाश बतलानेका प्रयत्न किया। दि अलेंबर्तका तो यह मत था कि अब तकका धर्मका इतिहास प्रमाद और वंचनाकी ही कहानी है। जिस तरह छातीपर चढ़े हुए भूतका दुःस्वप्न हम भूल जाना चाहते हैं, उसी तरह मानवोंका धार्मिक इतिहास भूल जाना चाहिए। वालटेयर तो यह कहा करता था कि ऐतिहासिक धर्म और कुछ नहीं है सिवा इसके कि वह उच्छृंखल बदमाशोंका अज्ञ जनताका निरंतर शोषण करनेके लिए जान-बूझकर रचा हुआ षड्यंत्र है। जब उससे किसीने कहा कि "मरनेपर आखिर सबको न्याय मिलेगा" तो इस सिद्धान्तके बारेमें उसने कह दिया :

" यह सिद्धान्त पहले किसी मूर्खको फँसानेके लिए किसी लुच्चेकी निकाली हुई एक जुगत है । " ह्यूमने धर्मका प्राकृतिक इतिहास (Natural History of Religion) नामक ग्रंथके अन्तमें कहा है कि " दुनियांमें फैले हुए धर्म-सिद्धान्तोंकी ठीक ठीक जाँच करनेपर तुम पाओगे कि धर्म-विचार बीमार आदमियोंके स्वप्नमात्र हैं । तुम यह मानने लगोगे कि ये सिद्धान्त बुद्धिवादी लोगोंके अंतःकरणद्वारा स्वीकृत नहीं हैं, बल्कि मानवदेहधारी बंदरोंकी उपद्रवकारी वृत्तिमेंसे निकली हुई लहरें हैं । " प्राचीन कालमें तो चार्वाकने धार्मिक सिद्धान्तोंपर इससे भी अधिक ज़ोरदार हमला किया था ।

बुद्धिवादके बलपर धार्मिक सिद्धान्तोंका खण्डन करनेकी यह विध्वंसक प्रवृत्ति यद्यपि मानवकी प्रगतिके लिए नितान्त आवश्यक है, तथापि वह अपूर्ण है । इस विषयका केंद्र-बिंदु अलग है । उसको हम इस विचारमें पा सकते हैं कि धर्म-संस्था एक सामाजिक शक्ति है । इस शक्तिके पीछे एक प्रकारकी विशिष्ट ऐतिहासिक कारणोंसे बनी हुई सामाजिक मनःस्थिति तथा एक प्रकारकी सामाजिक रचना है । आजकल धर्मके अंदरके पागलपन और बालिशताको खोलना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है । जो महत्त्व देने योग्य प्रश्न है वह यह है कि धर्मके क्षेत्रमें वदतोव्याघात, हेत्वाभास, तर्कदोष, प्रमाद, बचकानापन तथा पागलपन शुरूसे लेकर आजतक पाये जाने पर भी युगानुयुग अनंत मानवोंने धर्मको क्यों आश्रय दिया ? धर्ममें पाये जानेवाले अनृत, अज्ञान, भ्रांति, माया, कपट, वंचना, मूर्खताको प्रकाशमें लानेके प्रयत्नमें यह प्रश्न एकदम बाजूमें रह जाता है । इतिहास हमें बतलाता है कि निराधार कल्पना तथा हेत्वाभासदुष्ट अनुमानोंपर टिकी हुई धार्मिक विचार-पद्धतिके अनुसार ही बड़े बड़े प्रज्ञावान् पुरुषोंसे लेकर क्षुद्रतम पशुसम मानवोंतक सबने अपना जीवन बिताया है । इसका यह अर्थ है कि एकमात्र धर्म-संस्था ही समाजमें विशिष्ट हितसंबंधोंकी रक्षा करनेवाली सामाजिक शक्ति है । धर्म-संस्था ही एकमात्र प्राचीन इतिहासमें प्रभावोत्पादक शक्ति रही है । इसी दृष्टिकोणसे इस संस्थाके सर्वांगोंका समीक्षण करना ज़रूरी है । धर्म-विचारोंको मिथ्या सिद्ध कर देनेसे ही धर्म-संस्था डांवाँडोल नहीं हो जाती । उसके लिए उसकी उपयुक्तताका खातमा होनेकी जरूरत होती है । विशिष्ट वर्गोंके स्वार्थ इस संस्थाके अस्तित्वपर निर्भर होते हैं । जब यह वर्गव्यवस्था नष्ट

होगी और सामाजिक जीवनकी अव्यवस्था नष्ट होगी, तभी उसका समाजमेंसे निर्मूलन * होगा । जब प्रचलित हीन समाज-रचनाका अंत होकर उसके स्थानमें धार्मिक भ्रांतिकी आवश्यकता जिसे नहीं है ऐसी श्रेष्ठ समाज-रचना उत्पन्न होगी, तभी धर्म-संस्थाका लोप होगा। क्योंकि उसी स्थितिमें सामान्य जनताको विज्ञानकी शिक्षा मिल सकेगी। विज्ञानकी दृष्टि मिले बगैर सामान्य जनताकी आँखोंपर जमे हुए धर्म-भ्रांतिके पटल नष्ट नहीं होंगे।

परीक्षक बुद्धिवाद और धर्म-विकास

जो धर्मके विकासका इतिहास है वही धर्म-समीक्षाका इतिहास है। पुराने युगोंकी धर्मसंस्थाओं, धर्मतत्त्वों, धार्मिक विधि-निषेधों तथा धार्मिक भावनाओंमें फर्क होते समय जो नये आचार विचार पैदा होते हैं, उन आचार-विचारोंकी जड़में एक प्रकारका बुद्धिवाद होता है। नई परिस्थितिमेंके नये अनुभव आदमियोंको पुरानी संस्थाओंमें परिवर्त्तन करनेके लिए या उनका नाश करनेके लिए प्रवृत्त करते हैं। परिवर्त्तन करनेकी अथवा विनाश करनेकी यह प्रवृत्ति बुद्धि-जन्य होती है। जब पुराने आदर्श और पुराने आचार-विचार गायब होने लगते हैं, तब उन्हींमेंसे नये आदर्श और नये आचार-विचार पैदा होते हैं। इस नई स्थितिकी प्रसूतिका कारण बौद्धिक प्रेरणा होती है। जितनी भर प्रगतिशील मानवीय प्रवृत्तियाँ हैं उनकी जड़में बुद्धिवाद या अन्वेषक बुद्धिकी मूल प्रेरणा काम करती है। इस प्रेरणाके कारण ही धर्मका विकास एवं क्षय होता है। यह सच है कि भावना, आकांक्षा, श्रद्धा, भक्ति, प्रीति, द्वेष, भय, विस्मय, विषाद आदि समस्त मनकी प्रवृत्तियोंका धर्मको आधार रहता है। परन्तु इनके भी मूलमें स्पष्ट या अस्पष्ट, सुव्यवस्थित या अव्यवस्थित, प्राकृत या सुसंस्कृत विचार-धारा अथवा बौद्धिक क्रियाका होना अनिवार्य होता है। विशिष्ट विचारोंके अभावमें ऊपरकी मनःप्रवृत्तियोंका अस्तित्व ही नहीं होता और प्रत्येक धर्म-संस्थाका अधिष्ठान विशिष्ट बुद्धि-वाद होता है। पुरानी विचार-परंपराको विदारण करके ही नया बुद्धिवाद जन्म लेता है। पुराने बुद्धिवादकी जाँच करनेवाले नये बुद्धिवादको ही समीक्षा कहते हैं। यह समीक्षक प्रवृत्ति प्रत्येक धर्मके इतिहासमें संक्रमणके अवसरपर उदित होती है।

---

* Anti-Duhring P. 355 by F. Engels.

हर समय नई विचार-धाराको पुरानी विचार-धारावाले लोग अश्रद्धा, पाखंड और नास्तिकताके नामसे पुकारते आये हैं। वस्तुतः श्रद्धाका अर्थ है विशिष्ट विचारोंकी सचाईमें विश्वास। आजकल हम श्रद्धा उन लोगोंके मनके विश्वासको कहते हैं जो कि ज्ञानका उपयोग कम किया करते हैं। प्रत्येक विचार-पद्धति, चाहे वह पुरानी हो या नई, चाहे उन्नत हो या अवनत, अपना निश्चित स्वरूप अवश्य रखती है। इस बातके अपवाद होते हैं केवल शून्यवाद या संशयवाद। किंतु इनमें भी कुछ विचार निश्चित स्वरूपके होते हैं। इसी निश्चयको श्रद्धा कहा जा सकता है। लेकिन भाषामें श्रद्धा शब्द 'तर्क और बुद्धिवादके प्रतियोगी' अर्थमें इस्तेमाल होता है। इसका कारण है मनो-विज्ञान-संबंधी अज्ञान। श्रद्धा और विचारमें विरोध होता है, लेकिन वह विरोध पुराने और नये विचारोंका विरोध है। पुराने श्रद्धामय विचारोंकी जाँच शुरू होते ही श्रद्धा डाँवाँडोल होने लगती है। इसीलिए नये विचार पाखंड अथवा नास्तिक कहलाये जाते हैं। धर्म-समीक्षा सचमुच ही पाखंड है। इसी पाखंडके कारण ही तो नये युगका अवतार होता है। नये ध्येय, नये मूल्य और नई समाज-रचनाको यह पाखंड कहलाई जानेवाली विचार-क्रांति ही जन्म देती है। यदि इतिहासके अनुसार क्राइस्ट, कृष्ण, बुद्ध, और मुहम्मद जैसे धर्म-संस्थापक भी प्राचीन धर्मोंकी दृष्टिमें महा पाखंडी थे, तो सभी धर्मोंको विचारोंकी आँचमें डालकर परखनेवाली नई धर्म समीक्षा यदि अति पाखंडी बतलाई जाय, तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है?

उपनिषदोंने देवता, ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, यज्ञ आदिकी मीमांसा शुरू की; कि उसीसे परंपरागत यज्ञ-संस्थाकी व्यर्थता साबित होने लगी। तीन हज़ार देवताओंका वैचारिक कत्ले-आम याज्ञवल्क्यने बृहदारण्यक उपनिषदमें कर डाला।* ईश्वरका स्वरूप अब व्यक्ति विशेष न रह कर एक तत्त्व ठहराया जाने लगा। पुरानी श्रद्धा वहीं ढहने लगी। पुराने विचारोंको बौद्धिक परखकी आँच लगने लगती है कि पुराने देव पिघलने लगते हैं।

भारतवर्षमें वैदिक साहित्यके उत्तर कालमें, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, चार्वाक आदि दर्शन पैदा हुए। इन दर्शनोंकी उत्पत्ति परंपरागत धार्मिक कल्पनाओंकी

---

* बृहदारण्यकोपनिषद ३। ९। १

साधक बाधक परीक्षा और व्यवस्था करनेके लिए हुई थी। ईश्वर, जगत्, जीव, कर्म, आदिका अर्थ क्या है, इस बातकी मीमांसा इन दर्शनोंने की। ये दर्शन वस्तुतः धर्म-समीक्षा ही हैं। चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन भी वैदिक धर्मका बुद्धिवादद्वारा खंडन करनेके लिए और नये धर्मका समर्थन करनेके लिए पैदा हुए।

यह दार्शनिक धर्म-समीक्षा इसलिए पैदा हुई कि इसके द्वारा यह निश्चित किया जा सके कि कौन-सा तत्त्व सत्य अथवा असत्य है। आधुनिक धर्म-समीक्षा

धर्म-समीक्षाके तीन पहलू

यह बतलाकर ही नहीं रुक जाती कि अमुक धर्म अथवा धर्मतत्त्व सत्य है या कि असत्य, एवं अमुक धर्म अथवा धर्मतत्त्व उपयुक्त है या कि अनुपयुक्त; वह एक कदम आगे बढ़कर इस बातकी भी मीमांसा करती है कि वह धर्म अथवा धर्म-तत्त्व इतिहासके किस कालमें, समाजकी किस परिस्थितिमें और किन ऐतिहासिक कारणोंसे पैदा हुआ। विशिष्ट प्रकारकी धर्म-संस्था और धार्मिक-विचार-पद्धति विशिष्ट सामाजिक परिस्थितिका फल होती है। उस विशिष्ट परिस्थितिमें यदि परिवर्त्तन हुआ, तो धर्म-संस्थामें कैसा परिवर्त्तन होगा, इस बातकी मीमांसा नई धर्म-समीक्षा करती है। धर्म-तत्त्वोंकी सचाई, धर्मसंस्थाओंका ऐतिहासिक प्रयोजन, धर्मतत्त्वोंका और धर्मसंस्थाओंका ऐतिहासिक कार्य-कारण-भाव, इन सब बातोंकी समीक्षा नई धर्म-समीक्षा करती है। सचाईकी परख, प्रयोजनकी जाँच और ऐतिहासिक कार्य-कारण-भावकी परीक्षा, ये धर्म-समीक्षाके तीन पहलू हैं।

यह इतिहासाधिष्ठित धर्म-समीक्षा धर्मेतिहासका खुलासा विकासवादकी

ऐतिहासिक विकास और धर्म

विचार-पद्धतिके द्वारा करती है। अत्यंत जंगली अवस्थासे लेकर ठेठ सुधरे हुए मानव-समाज तक धर्मके बहुत स्थित्यन्तर होते हैं। हीन समाजका धर्म हीन होता है और उच्च समाजका धर्म उच्च। समाजकी उच्चता और नीचताके बीचकी बहुविध श्रेणियाँ होती हैं। उनमें तारतम्यकी अविरत परंपरा होती है। मानव-समाजकी श्रेष्ठता कनिष्ठताकी परीक्षा संस्कृतिके सर्वांगोंकी जाँच करनेके पश्चात् ही की जा सकती है। अलबत्तह यह नहीं कहा जा सकता कि धर्म-विकास अथवा संस्कृति-विकास

बहुत पुराने कालसे आजतक लगातार प्रगतिमय रहा है। उसमें अनेक चढ़ाव और उतार रहे हैं। ये चढ़ाव-उतार यद्यपि इतिहासमें मालूम पड़ते हैं, तथापि मानव-समाजका जो इतिहास उपलब्ध है उससे यही मालूम पड़ता है कि मानव-समाजका आजतक विकास ही होता गया है। प्राचीन कालमें अनेक राष्ट्रोंका उत्थान और पतन हुआ; लेकिन ऐसा मालूम पड़ता है मानों उन राष्ट्रोंके द्वारा संप्राप्त संस्कृतिकी बपौती एक राष्ट्रसे दूसरे राष्ट्रको मिली हो, मानो उन राष्ट्रोंने आपसमें संस्कृतिक आदान-प्रदान किया हो। क्रीट, इजिप्त, सुमेर, पेलेस्टाइन, भारतवर्ष और चीनकी प्राचीन संस्कृतियोंका परस्पर संपर्क और संघर्ष हुआ। एशियाकी और आफ्रिकाकी भूमध्यसागरके नजदीककी सांस्कृतिक उज्ज्वल परंपरा यूनानियोंको मिली; यूनानी संस्कृतिके दीपसे रोमके लोगोंने अपनी संस्कृतिका दीप जलाया; रोमन संस्कृतिके प्रकाशसे मध्ययुगीन युरोपका जन्म हुआ; उसके बाद अरबोंने ज्यों ही शास्त्र और कलाका संदेश मध्ययुगीन यूरोपको दिया, त्यों ही आधुनिक पाश्चात्य सुधारका जन्म हुआ और वे सारे संसारके आगे जा बैठे। पिछले इतिहासमें अनेक राष्ट्रोंके उत्थान-पतन हुए, लेकिन मानव संस्कृतिका विकास तो क्रम क्रमसे होता ही गया और उसीके साथ साथ धर्मका भी विकास हुआ। विकास या प्रगति होती ही है और होना ही चाहिए, यह कोई मानव-इतिहासका अपरिहार्य नियम नहीं है। इतिहास तो डंकेकी चोट यह कहता है कि प्रतिगामी और प्रगति-विरोधी शक्तियोंका विजय होनेके कारण ही कई राष्ट्र और संस्कृतियाँ कालके गालमें चली गई। परन्तु इस बातको मानना होगा कि व्यक्तिगत रूपसे विशिष्ट राष्ट्र यद्यपि नष्ट हो गये, तथापि उनकी संस्कृतिका अंश अन्य राष्ट्रोंने संग्रहीत कर लिया और उसीके कारण आजतक मानव समाज विकसित होता रहा। * हिमालयमें मानसरोवर अथवा गंगोत्रीकी यात्रा करते समय अनेक चढ़ाव उतार आते हैं, लेकिन प्रवासी तो एकसे एक ऊँची पर्वत-श्रेणीपर चढ़ता जाता है। ठीक वैसे ही मानव समाजने मानवकी उत्पत्तिसे लेकर आज तक जो मार्ग तय किया है, उसमें प्रगति ही हुई है। जो बात संस्कृतिकी है, वही धर्मको भी लागू है। कई बार क्रम-विकास होता गया, कई बार विरोध-

---

* The History of Europe, Preface, by Fisher.

विकास पद्धतिके अनुसार उन्नति हुई, यानी पहली ऐतिहासिक परिस्थितिका नाश हुआ और उसकी जगह दूसरी परिस्थिति उत्पन्न होकर प्रगति हुई, और कई बार दीर्घ काल तक अनवस्था और अवनतिके गर्त्तमें अटक कर रहना पड़ा। इतिहासकी उपर्युक्त समस्त अवस्थाओंमेंसे धर्म-संस्था भी गई है।

समाज विकासकी जिस अवस्थामें होता है, उसी अवस्थामें धर्म भी होता है। मानव-संस्कृतिके सभी अंगोंकी यह बात है। संगीतमें स्वर, ताल, आलाप अथवा विविध वाद्योंमें जिस प्रकार संवादित्व होता है, मेल होता है, सुसंगति होती है, उसी प्रकार संस्कृतिके सब अंगोंमें संवादित्व, मेल और सुसंगति होती है। किसी समाजकी दूसरी संस्कृति पिछड़ी हुई हो और धर्म ही केवल उन्नतिके शिखरपर पहुँचा हुआ हो, यह बात कदापि नहीं होती। "जैसे लोग वैसे ही उनके देव" वाली कहावतमें इतिहासका उत्तम रहस्य भरा है। उत्पादनपद्धति, कला, विद्या, जगत्संबंधी ज्ञान, और समाजान्तर्गत वर्गसंबन्धोंका जिस प्रमाणमें विकास होता है, उसी प्रमाणमें कानून, नीति और धर्मकी योग्यता बढ़ती जाती है।

समाज-परिवर्तन और धर्म-परिवर्तन

जिस समयकी उत्पादन-पद्धति और उसपर खड़ी की गई समाज-रचना जितनी पिछड़ी हुई या सुधरी हुई होती है, और उस समयका जीवन-विषयक अथवा विश्व-विषयक ज्ञान जितना ओछा या विस्तृत होता है, उसी परिमाणमें उस समयकी धर्म-संस्था पिछड़ी हुई अथवा सुधरी हुई होती है। इसी तरह धार्मिक-विचार-सरणि भी ओछी या विस्तृत होती है। मानव-जाति-शास्त्रमें इसके काफी सुबूत मिलते हैं। उदाहरणके तौरपर हमें नर-बलिकी प्रथा और दास्य-संस्थाको ले लेना चाहिए। जिस मानव-समूहमें भूमिका और नदियोंका ठीक ठीक उपयोग करनेकी योग्यता नहीं होती, कृषि-कर्म-कौशल नहीं होता, उस मानव-समूहको दूसरे मानव-समूहकी उपयोगिताका ज्ञान नहीं होता और ऐसी सामाजिक परिस्थितिमें नर-मेध या नर-बलिसे देवता सन्तुष्ट होते हैं। उस स्थितिमें पड़े हुए एक मानव-समूहका दूसरे मानव-समूहके पकड़े हुए युद्ध-बन्दियोंका सर्वथा संहार कर डालना उस समयका युद्ध-धर्म होता है। सिर्फ

जीते हुए लोगोंकी स्त्रियोंका ही बचाव किया जाता है। आगे चलकर जब एक मानव-समूहको इस बातका भरोसा हो जाता है कि दूसरे मानव-समूहसे उत्पादक अथवा दूसरी तरहका परिश्रम लिया जा सकता है और उसे मनुष्योंकी कर्तृत्व-शक्तिका ज्ञान हो जाता है, तब विजयी मानव-समूह जीते हुए मानव-समूहका सर्व-संहार करनेके बदले उसे दास या शूद्र बना लेता है। उसी समय दया-धर्मका उदय होता है।

इस समय संसारमें जितने धर्मोंका अस्तित्व है उनमेंसे किसी भी धर्मकी जँच पड़ताल करनेसे यह सहज ही मालूम हो जायगा कि परलौकिक अथवा आध्यात्मिक अवास्तव कल्पना ही धर्मकी असाधारण विशेषता है। इसलिए प्रत्येक धर्म-संस्थाका आधार कम-ज्यादा परिमाणमें पिछड़ी हुई उत्पादन-पद्धति, हीन समाज-रचना और सृष्टि-शास्त्रका अधूरापन या अपूर्णत्व ही होता है। यह कल्पना प्राथमिक स्थितिके समाजमें स्थूल रहती है, इसलिए उसकी आभासमयता अथवा भ्रान्तिमयता स्पष्टतासे समझमें आ जाती है, परन्तु सुधरे हुए समाजमें वह कल्पना गूढ एवं सूक्ष्म रूप धारण कर लेती है और उसका भ्रान्तित्व सूक्ष्म चर्चासे आवृत किया हुआ रहता है। इतना अवश्य सच है कि सभी धर्म अज्ञान और पिछड़ेपनकी एक सतहपर नहीं रहते, क्यों कि सारे मानव-समाज सुधारकी एक ही सतहपर नहीं रहते। सुधारकी सतह जितनी ही ऊँची होती हैं, धर्म-संस्था भी उतनी ही ऊँचाईपर रहती है।

प्रकृतिकी शक्तियोंको सचेतन मानकर उनकी आराधना करनेवाले धर्म पिछड़े हुए मानव-समाजमें ही दिखलाई देते हैं। जगत्में न्यायका साम्राज्य है। जगत् अबाधित कर्म-विपाक-सिद्धान्तसे अथवा नैतिक नियमोंसे बँधा हुआ है अथवा ईश्वर न्याय-तत्त्वोंकी मंगल-मूर्ति है, इन तत्त्वोंपर आधारित धर्म सुधेर हुए मानव-समाजमें ही प्रतिष्ठा पाये हुए दिखते हैं। एक समय जो मानव-समाज नैसर्गिक भौतिक शक्तियोंमें देवताका आरोप करके भक्ति करता था, वही कालान्तरमें विकासकी ऊँची सीढ़ीपर चढ़ जाने पर आधे तात्त्विक और नैतिक स्वरूपके आध्यात्मिक देवताओंकी उपासना करने लगता है। इस तरहका स्थित्यन्तर कुछ समाजोंमें बहुत विलम्बसे हुआ और कुछ समाजोंमें जल्दी हो गया। परन्तु इन स्थित्यन्तरोंमें उच्च और उच्चतर इस तरहकी तरतमता

ठहराई जा सकती है। वैदिक साहित्यके और यूनानी कथाओंके देवता भौतिक शक्तियोंमें आरोपित चेतन व्यक्ति थे। अनेक-देव-वादमेंसे ही एक-देव वाद अथवा ब्रह्मवाद हिन्दुओंके, पाश्चात्योंके और मुसलमानोंके धर्ममें प्राचीन समयमें उत्पन्न हुआ। इस स्थित्यन्तरकी जड़में सामाजिक स्थित्यन्तर है, यह बात इतिहाससे सहज ही समझमें आ जाती है। इस दृष्टिसे क्रिश्चयन और मुसलमान-धर्मके इतिहासकी पाश्चात्य इतिहासज्ञोंने बहुत अच्छी मीमांसा की है। यूरोपमें औद्योगिक क्रान्ति होनेपर पूँजीवादी समाज-स्थिति उत्पन्न हुई। उसके साथ ही क्रिश्चियन धर्ममें भी परिवर्त्तन हुए। इस परिवर्त्तनकी मीमांसा मेक्स वेबर और टॉनीने बहुत उत्तम रीतिसे की है।

गण-धर्म, राष्ट्र-धर्म और विश्व-धर्म इस क्रमसे संसारकी धर्म संस्थाओंका विकास हुआ है। जिस समय मानव-वंश घुमक्कड़ अथवा अंशतः स्थिर टोलियोंकी अवस्थामें रहता है उस समयके धर्मको गण-धर्म (Tribal religion) कहते हैं। प्रत्येक टोलीका धर्म भिन्न होता है। जब ये मानव-समूह किसी एक ही स्थानपर स्थायी रहने लगते हैं तब एक राष्ट्रका निर्माण होता है और इस प्रकारके अनेक राष्ट्रोंके मेलसे नवीन राष्ट्र धर्म (National religion) बनता है। प्राचीन भारतका वैदिक धर्म और यहूदी धर्म इसके उत्तम उदाहरण हैं। बौद्ध धर्मके उदयसे विश्व-धर्म अस्तित्वमें आया। जब खुश्की और समुद्री मार्गोंसे एशिया, यूरोप तथा आफ्रिकाके समाजोंका यातायात और व्यवहार बढ़ा और इसके कारण मानवताकी एकताका सबसे पहले अनुभव हुआ, तब मानवतामूलक विश्व-धर्म उत्पन्न हुए। उनमें बौद्ध-धर्म पहला विश्व-धर्म है। कुल, गोत्र, जाति, देश इत्यादिकी मर्यादाओंका त्याग कर सारे मनुष्योंको निश्रेयसका मार्ग बतलानेवाले धर्मको विश्व-धर्म कहते हैं। हिन्दू धर्म (शैव, वैष्णव आदि भक्ति-धर्म), ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म विश्वधर्मके (Universal Religion) ही भेद हैं। वे सभीको परमार्थका मार्ग दिखलाना चाहते हैं। इस प्रकार गण-धर्म, राष्ट्र-धर्म और विश्व-धर्म ये धर्म-संस्थाके सामाजिक अधिष्ठानोंके परिवर्त्तनको सूचित करनेवाली सीढ़ियाँ हैं।

आधुनिक धर्म-समीक्षकोंके विचारोंके अनुसार धर्मका विकास निश्चित करनेके दो प्रमाण हैं। पहला प्रमाण यह है कि इतिहासके किसी विशेष काल-खंडके मनुष्यको जगत् और जीवन-विषयक जो विज्ञान (Scientific knowledge) और उस विज्ञानके आश्रित संस्कृति मिलती है, उस काल-खंडके धर्म-विचार उसीसे मिलते जुलते होने चाहिए, विसंगत नहीं। दूसरा प्रमाण यह है कि उस विशिष्ट काल-खंडके मनुष्य-समाजकी जो सांस्कृतिक प्रगति होती रहती है, उस संस्कृतिकी प्रगतिको और उच्च सामाजिक जीवनको पुष्ट करनेवाली और प्रेरणा देनेवाली शक्तिको उत्पन्न करनेवाला वह कार्य होना चाहिए।

धर्म-विकासके ज्ञापक

अब थोड़ेमें यह बतलाया जाता है कि विज्ञानका धर्मके साथ क्या संबंध है।

प्रत्येक समाजका अस्तित्व विज्ञानपर आधारित होता है। वस्तुओंका वास्तविक कार्य-कारण-भाव समझे बिना उनका ठीक ठीक उपयोग होता ही नहीं। वास्तविक कार्य-कारण-भावोंका व्यवस्थित किया हुआ ज्ञान ही विज्ञान है। यह विज्ञान जितना उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होता है, संस्कृति भी उतनी ही उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होती है। क्योंकि अन्तर्बाह्य शक्तियोंका उपयोग करनेकी कला ही संस्कृति है। जिस समाजकी धर्म-कल्पना जितनी ही विज्ञानके अविरुद्ध होती है और विज्ञानाश्रित संस्कृतिकी पूरक होती है, वह समाजकी प्रगतिके लिए उतनी ही उपकारक होती है। उसकी सामाजिक उपयुक्ततासे ही उसका श्रेष्ठत्व और कनिष्ठत्व निश्चित होता है। अनेक-देव-वाद, ब्रह्म-वाद आदि धर्म-कल्पनाओंका अर्थ इसी दृष्टिसे जाँचना चाहिए।

सृष्टिकी विशिष्ट घटनाओंके कार्य-कारण-भावकी उलझनको सुलझानेके लिए जो चेतन शक्ति कल्पित की जाती है वही देवता है। आँधी, झंझा, मन्द समीर, लू, बर्फीली हवा, नावके अनुकूल अथवा प्रतिकूल वायु-प्रवाह आदि घटनाओंमें किसी न किसी चेतन-व्यक्तिका हाथ है; मनुष्यकी इस कल्पनाने वायु देवताको जन्म दिया। सृष्टिकी ऐसी ही घटनाओंकी काल्पनिक अथवा भ्रान्तिमय उपपत्तिसे देवता सिद्ध होते हैं जिनका कि वास्तविक रीतिसे स्पष्टीकरण नहीं होता। जितने देवता हैं उतनी ही भ्रान्तियाँ हैं। एक-देव-वादमें तैंतीस करोड़

भ्रान्तियोंमेंसे प्रायः सभी भ्रान्तियोंका निरास हो जाता है। एक-देव-वाद और ब्रह्म-परिणामवादमें यही अन्तर है। ब्रह्मपरिणामवादके अनुसार विश्वके कार्य-कारण-भावमें किसी सचेतन व्यक्तिका हाथ नहीं है। देव यदि हुआ भी तो वह विश्वसे अलग, विश्व-प्रकृतिसे निराला नहीं होता। इसलिए एकेश्वर-वादकी अपेक्षा ब्रह्मपरिणामवाद विज्ञानके अधिक निकट है। क्रिश्चियन और इस्लाम धर्म एकेश्वरवादी हैं और उपनिषद् ब्रह्मपरिणामवादी। सत्परिणतिवादी औपनिषद् धर्म क्रिश्चियन और इस्लाम-धर्मकी अपेक्षा अधिक विकसित है। क्यों कि वह विज्ञान-दृष्टिके अधिक अनुकूल है। भौतिकवादी विचार-सरणिसे जो धर्म जितना ही दूर होता है वह प्रगतिसे उतना ही दूर होता है।

इस दृष्टिसे, हेगेलने हिन्दू-धर्मके विषयमें जो अपना मत दिया है वह कितना गलत है, यह अच्छी तरह बतलाया जा सकता है। हेगेल अपने धर्म-दर्शनमें * कहता है कि हिन्दूधर्म क्रिश्चियन-धर्मकी अपेक्षा नीचे दर्जेका है। क्यों कि क्रिश्चियन-धर्मका ईश्वर-तत्व मुख्यतः चिन्मय आत्मरूप विचार-शील (spirit) है और हिन्दू-धर्मका ब्रह्म द्रव्य-रूप (Substance) है। उपनिषदोंमें कहा है कि सृष्टि जिससे उत्पन्न होती है, जिसमें विलीन हो जाती है, वह ब्रह्म है। इसका अर्थ होता है कि ब्रह्म द्रव्य है। ब्रह्ममें आत्मत्वकी कल्पना करनेवाला क्रिश्चियन धर्म श्रेष्ठ है। क्रिश्चियन धर्म कहता है कि देवने जगत् बनाया। वह यह नहीं कहता कि देवसे जगत् उत्पन्न हुआ। हेगेलका यह कहना ठीक नहीं है। क्यों कि जो धर्म कहता है कि देवने जगत्की रचना की, वह विज्ञानसे दूर है, रचनावादी है।

कोई भी विचार या आचार हो, वह जितना ही विज्ञानपर प्रतिष्ठित होगा उतना ही उन्नत होगा। जो वैद्यक विद्या रोगोंके निदान और चिकित्सामें मंत्र, तंत्र, जादू, आदि दैवी क्रियाओंका और अदृष्ट अलौकिक दैवी अथवा राक्षसी शक्तिकी कल्पनाका उपयोग ज्यादा प्रमाणमें करती है, वह अनाड़ी और जंगली है। इसके विपरीत जिस वैद्यक विद्यामें द्रव्य-गुणोंका अथवा भौतिक वस्तुओंका कार्य-कारण-भाव समझकर अथवा शरीर और आसपासके भौतिक विश्वकी क्रिया-प्रतिक्रियाओंके नियमोंपर ध्यान देकर निदान और चिकित्सा की जाती है,

* The Philosophy of Hegel pp. 495–514. by stace.

वह सुधरी हुई और उन्नत होती है। सूर्य-चन्द्रका उदय-अस्त, ऋतु-चक्र, भूकम्प, पर्जन्य, नदियोंके पूर, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, चन्द्रमाकी क्षय-वृद्धि, सृष्टिकी इन सब उथल-पुथलोंका दैवी कार्य-कारण-भाव धर्म-विद्या बतलाती है। इसलिए भौतिक कार्य-कारणभाव बतलानेवाले विज्ञान धर्म-विद्याकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। अदृष्ट कर्म-विपाकपर आश्रित मन्वादि स्मृतियोंके कानूनोंकी अपेक्षा कौटिल्यादिके अर्थ-शास्त्रोंके दृष्ट-मूलक कार्य-कारण-भावोंपर आश्रित कानून उच्च हैं। मनुष्यका सृष्टि-विषयक ज्ञान जितना ही बढ़ता है उसकी सत्ता भी उसी परिमाणमें सृष्टिपर बढ़ती है। जब सृष्टिपरकी सत्ता बढ़नेके अनुकूल समाज-रचना होती है तब समाजकी पारलौकिक अदृष्ट-वादी, देव-वादी और दैव-वादी विचार-सरणि क्षीण और मर्यादित होती जाती है। धर्मका महत्त्वपूर्ण आधार परलोक, अदृष्ट और अलौकिक दिव्य-शक्तिकी कल्पना है। यह आधार जितना ही बड़ा होता है, अज्ञान भी उतना ही बड़ा होता है। जिस परिमाणमें संस्कृतिके आचार-विचार उपर्युक्त कल्पनापर खड़े किये गये होते हैं उसी परिमाणमें वह संस्कृति पिछड़ी हुई होती है।

आधिभौतिक और आध्यात्मिक संस्कृति और धर्मके पारस्परिक संबंधको समझनेके लिए यहाँ बहुत संक्षेपमें संस्कृतिका स्वरूप बतलाया जाता है।

संस्कृतिके स्वरूप

आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियोंको सामाजिक जीवनके उपयुक्त बनानेकी कलाको ही संस्कृति कहते हैं। स्वयं मनुष्य आध्यात्मिक शक्ति है और उसके चारों ओरका विश्व आधिभौतिक शक्ति है। मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको कार्यक्षम बनाता है, विकारोंपर काबू पाता है, विचारोंकी अर्थात् ज्ञानकी वृद्धि करता है, बुद्धि, भावना और आकांक्षाओंको प्रगल्भ तथा सूक्ष्म बनाता है। इसीको आध्यात्मिक संस्कृति कहा जायगा। नीति, सौन्दर्य, सत्य, न्याय, ध्येय, श्रेयस् आदि संज्ञाओंसे जिनका बोध होता है, उनका इस आध्यात्मिक संस्कृतिसे संबंध है। कायदे-कानून, धर्म, साहित्य, शास्त्र, विज्ञान, समाज-व्यवस्था, और राज्य-पद्धतिका आध्यात्मिक-संस्कृतिमें अन्तर्भाव होता है। भौतिक-संस्कृतिका अर्थ है मनुष्यके चारों ओर फैले हुए विश्वका समाज-जीवनके अनुकूल रूपान्तर।

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, धातु, वृक्ष, वनस्पति, पशु इत्यादिके रूपमें चारों तरफ फैली हुई अनन्त-सृष्टिको उपयोगी बनाना, शिकार, जहाज़रानी कृषि, पशु-पालन, धातुओंके हथियार बनाना, भाफ और बिजलीके यंत्र बनाना आदि क्रियाओंका भौतिक संस्कृतिमें अन्तर्भाव होता है। भौतिक संस्कृति और आध्यात्मिक संस्कृतिके बीच पृथक्ता बतलानेवाली रेखा खींचना कठिन है। इसका कारण इन दोनोंकी परस्परावलम्बिता है और ये एक दूसरेसे मिली हुई हैं। आधिभौतिक संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृतिका आधार है। आसपासके जगत्‌का उपयोग करते करते ही मनुष्यकी आन्तरिक शक्तियोंका विकास होता है। मनुष्योंके अत्यन्त गहरे नैतिक संबंधोंका आधार भी भौतिक होता है। पति और पत्नि, माता और पुत्रका सम्बन्ध अत्यन्त स्नेहका होता है। परन्तु उनका प्राथमिक कारण भौतिक होता है। मनुष्य मनुष्यके बीचके सारे संबन्ध साक्षात् अथवा परम्परासे समाजकी भौतिक आवश्यकताओंकी व्यवस्थापर ही अधिष्ठित हैं। गीताकी आसुरी सम्पत्ति और दैवी सम्पत्ति, मनुके वर्णाश्रम धर्म अथवा अस्तेयादि धर्मोंका समाजके भौतिक जीवनकी व्यवस्थासे सम्बन्ध रहता है। जिस मानव-समाजकी भौतिक संस्कृति जितनी सुधरी हुई होती है, उसकी आध्यात्मिक संस्कृति भी उतनी ही सुधरी हुई होती है। इतिहासमें ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है और न हो सकता है कि किसी समाजका अध्यात्म तो श्रेष्ठ हो और भौतिक जीवन कनिष्ठ।

अमेरिकन शास्त्रियोंकी संस्कृतिकी व्याख्या

अमेरिकाके प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक बोआस (Boas) ने संस्कृतिकी त्रिपुटी बतलाई है * (१) मनुष्य और निसर्गका सम्बन्ध और निसर्ग-विजय। (२) मनुष्य मनुष्यके बीचके संबंध अथवा सामाजिक सम्बन्ध। (३) मनुष्यके अन्तःकरणकी क्रियाप्रतिक्रिया।

(१) मनुष्य और निसर्गके संबंधके कारण अथवा निसर्गपर विजय प्राप्त करनेके कारण जो संस्कृति निर्माण होती है उसके अगणित भेद हैं:—अन्न

* General Anthropology pp. 4–5 Edited by Franz Boas.

पैदा करना, उसकी रखवाली करना, गृह, पशु, वनस्पति, ऋतु-चक्र, वायु, वर्षा इत्यादिसे बचनेकी और उनपर अधिकार रखनेकी पद्धति । (२) मनुष्य मनुष्यके बीचके संबंध :—कुटुम्ब, गण, वर्ग, जाति, उच्च-नीच श्रेणी आदि भिन्न भिन्न सामाजिक गुटोंके अन्तर्गत और बाहरी संबंध, स्त्री-पुरुष तरुण-वृद्धके सम्बन्ध, समाजके राजकीय और धार्मिक संगठन, युद्ध और शान्ति कालके समाज-संबंध । (३) मनुष्यके अन्तःकरणकी क्रियाप्रतिक्रिया :—इसमें पहले दो तरहके संबंधोंके कारण अन्तःकरणपर होनेवाली प्रतिक्रिया आती है । ज्ञान, विचार, भावना, अपेक्षा, आकांक्षा और प्रत्यक्ष प्रयत्न यही वह प्रतिक्रिया है । बौद्धिक और भावनात्मक मनोव्यापारका इसमें अन्तर्भाव होता है । शास्त्र, नीति, कला, सौन्दर्य और धर्मका इसमें समावेश होता है । मनःकल्पित मूल्योंका भी इसमें अन्तर्भाव होता है ।

बोआसने संस्कृतिके दूसरे और तीसरे संपुटमें धर्मकी गणना की है । संस्कृतिके गति और इतिहास हैं । इसलिए धर्मके भी गति और इतिहास हैं । इसलिए धर्मेतिहासके सिद्धान्त समझ लेनेके लिए समाज और सामाजिक संस्थाओंके परिवर्त्तनके सिद्धान्त समझ लेना आवश्यक होता है । उसके लिए संस्कृतिके सर्वांगका पृथक् पृथक् और एकसाथ अध्ययन करना आवश्यक है ।

संस्कृतिकी बाढ़

संस्कृति कैसे बढ़ती है, यह एक विवाद-ग्रस्त विषय है । इसमें दो सम्प्रदाय हैं * । पहले सम्प्रदायके पुरस्कर्ता टायलर, सर जेम्स फ्रेजर और अनेक अन्य ख्यातनामा इतिहासज्ञ हैं । यह सम्प्रदाय कहता है कि प्रत्येक समाजकी संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओंसे उत्पन्न हुई है । इनमें आत्म-रक्षण, सन्तानोत्पादन और सन्तान-संवर्द्धन यह पहली आवश्यकता है । ये आवश्यकताएँ लगातार बढ़ती ही रहती हैं और वे बढ़ती रहती हैं इसलिए समाज और संस्कृति बढ़ती है । यदि किसी कारणसे यह बाढ़ रुक जाती है तो समाज और संस्कृतिमें भी रुकावट आ जाती है । दूसरा सम्प्रदाय इलियट स्मिथ आदि ब्रिटिश संशोधकों और कुछ जर्मन-आस्ट्रियन पंडितोंका है । यह सम्प्रदाय कहता

* Encyclopaedia of Social Sciences, on 'Culture'

है कि विशिष्ट राष्ट्र ही ऊँचे दर्जेकी विशिष्ट संस्कृति उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं। दूसरे राष्ट्र या समाज संस्कृति उत्पन्न करनेवाले राष्ट्रोंकी संस्कृति स्वीकार करके सुसंस्कृत होते हैं, इससे संस्कृतिका प्रसार और विनिमय बढ़ता है। स्मिथके मतसे मूल संस्कृति इजिप्टमें प्रगल्भ अवस्थाको पहुँची। कृषि, व्यापार, स्थापत्य, राज्य, धर्म-संस्था, पुरोहित-वर्ग, लेखन, जहाज़रानी, युद्ध-कला इत्यादि स्वरूपकी संस्कृति पहले इजिप्टमें ही बढ़ी। इस संस्कृतिने सारे जगत्पर आक्रमण किया और इसीसे जगत् पहली बार सुसंस्कृत हुआ। जर्मन-संशोधक कहते हैं कि मूलमें आठ प्रकारकी संस्कृतियोंका उदय हुआ। आज सारी मानव-जाति कम ज्यादा परिमाणमें उन्हीं संस्कृतियोंके विनिमय, सम्मिश्रण, आक्रमण और संघर्षसे प्रकाशित है।

इन दोनों ही सम्प्रदायोंमें ऐतिहासिक सचाई है। दूसरा सम्प्रदाय संकुचित दृष्टिका है। यह कुछ थोड़े-से मानव-समूहोंको ही महान् संस्कृति उत्पन्न करनेका श्रेय देता है। यह आग्रह-पूर्वक कहता है कि थोड़े ही मानव-समूह उच्च संस्कृति निर्माण कर सकते हैं। पहला सम्प्रदाय अधिक युक्तियुक्त है। सभी मानव-समूह योग्य परिस्थिति मिलनेपर महान् संस्कृति उत्पन्न कर सकते हैं और अड़चनें आनेपर पिछड़ जाते हैं। संस्कृतिकी प्रगतिके मर्यादित और संकुचित लक्षण लेकर ही दूसरा सम्प्रदाय संस्कृतिकी मीमांसा करता है। जब कि पहला सम्प्रदाय संस्कृतिकी अनन्त वृद्धिकी शक्यता इतिहासके गहरे अवलोकनसे सिद्ध करता है और पिछड़ी हुई तथा आगे बढ़ी हुई मानव-जातिका भव्य भवितव्य प्रकट करता है। प्रगतिकी अखंड प्रेरणा उसीसे मिलती है। दूसरा सम्प्रदाय ऐसे ऊँचे वर्गकी अप्रत्यक्ष रूपसे तरफदारी करता है जो कि कृतार्थ हो चुका है और जिसने धन और सत्ता सम्पादन कर ली है। दूसरे सम्प्रदायका इतना ही मुद्दा ग्रहण करने योग्य है कि संस्कृतिकी बाढ़ विनिमय, सम्मिश्रण और संघर्षसे हुई है। परन्तु संस्कृति-वृद्धिका यही एक कारण नहीं है। संस्कृतिकी मूल प्रेरक सामाजिक आवश्यकता ही है। सामाजिक आवश्यकताके कारण ही समाज स्थानान्तर करते हैं, एक दूसरेपर आक्रमण करते हैं, एक दूसरेकी संस्कृतिको मिला डालते हैं अथवा स्वतः ही एक दूसरेसे मिल जाते हैं।

दैववादी और आत्मवादी सम्प्रदाय

जर्मनीके सुप्रसिद्ध विद्वान् ओस्वाल्ड स्पेंग्लरने अपने 'पश्चिमका पतन' (The decline of the West) नामक विशाल ग्रन्थमें प्राचीन और अर्वाचीन सभी संस्कृतियोंकी आलोचना की है। उन्होंने बतलाया है:—संस्कृतिके दो युग हैं प्राथमिक और उच्च। प्रत्येक संस्कृति मानव-समूहके अन्तरमें रहनेवाले आत्माकी जागृतिसे निर्माण होती है।* उसके पहले यह आत्मा प्राथमिक संस्कृतिकी (Primitive Culture) बालिश अवस्थामें चिरकालसे सोये हुए मानव-समूहोंमें स्वस्वरूपमें लीन हुआ रहता है। यह आत्मा उस अव्यक्त, निराकार, दिक्कालातीत, अमर-स्थितिसे बाहर आकर व्यक्त, साकार, दिक्कालबद्ध, सान्त और मर्त्य बनता है। किसी विशेष भू-प्रदेशमें ही उसकी जड़ें एक विशालवृक्षके समान जमी हुई होती हैं। इस व्यक्त स्थितिमें आनेपर उसकी सम्पूर्ण बाढ़ होती है। उसकी सारी शक्तियाँ विकसित होकर जब समाप्त हो जाती हैं तब वह मर जाता है। उसकी शक्तिका विकास ही समाजकी अनेक जमातें, भाषाएँ, साम्प्रदायिक श्रद्धा, कलाएँ, राज्य और विज्ञान हैं। इस आत्माहीको संस्कृति-पुरुष कहना चाहिए। यह मरकर अपने मूल स्वरूपमें विलीन हो जाता है। इस संस्कृति-पुरुषका पूर्ण आविष्कार ही संस्कृति है। प्रत्येक संस्कृतिका आत्मा भिन्न होता है। भारतीय, चीनी, मिसरी, सुमेरियन, ग्रीक, यहूदी, अरबी, पाश्चात्य आदि प्राचीन और अर्वाचीन सभी संस्कृतियोंका आत्मा निराला है। इन आत्माओंकी प्रत्यगावस्था है जंगली अवस्थाकी गण-संस्कृति (Tribal Primitive Culture)। इन आत्माओंका उन्मेष है जगत्की भिन्न भिन्न उच्च संस्कृतियाँ। यह अत्यन्त अगम्य है कि इन आत्माओंमें प्रकट होनेकी स्फूर्ति कब और कैसे होती है। जिस तरह बीजमें अंकुर फूटते हैं और कोंपल निकलती है उसी तरह इनका आविर्भाव होता है। वसन्त, ग्रीष्म, शरद् और शिशिर अथवा कुमार, तरुण, प्रौढ़ और वृद्ध इन चार अवस्थाओंमेसे आत्मा जाते हैं। × आत्माकी प्राथमिक स्फूर्ति अर्थात् वसन्त; इसमें नैसर्गिक प्रवृत्तियोंके खूब बौर लगते हैं,

* The decline of the West p. 106 by Oswald Spengler.

× Ebid pp. 21, 22, 31, 78, table 1.

लड़नेकी और रक्तकी प्यास बढ़ती है, काव्य-मय प्रतिभा जाग्रत होती है, विश्व-व्यापी भावना उल्लसित होती है, ईश्वरीय साक्षात्कार होता है। महा-काव्योंकी रचना इसी समय होती है। जानकारीकी प्रगल्भता अर्थात् ग्रीष्म। इस समय नागरिकता आने लगती है। ग्राम-जीवन नागरिकताका आश्रित बनता है। मूर्त्ति, स्थापत्य, चित्र, संघटित धर्म, पवित्रताकी भावना, गणित, ज्योतिष, वाद-कुशलता, वक्तृत्व आदिको महत्त्व प्राप्त होता है। जिसमें सारी बौद्धिक क्रिया परिपक्व और फलित होती है वह है शरद्। शरद् अर्थात् फल-संग्रह-काल। यह युग बुद्धि-वादी और तत्त्व-ज्ञानप्रधान होता है। इसमें विविध विज्ञान निर्माण होते हैं, दर्शनोंकी रचना होती है, समस्त पुरानी परम्पराका संशोधन होता है, धन और विज्ञानको प्रतिष्ठा मिलती है। शिशिर अर्थात् जड़ता। इसमें सारा ही जीवन जमने लगता है, अहंकारका लोप होने लगता है, अराजकता फैल जाती है। विश्व-बन्धुत्वकी वृत्ति बढ़ती है, धर्म नीति-प्रधान बनता है, दृष्टि जड़वादी हो जाती है, श्रद्धा गौण और बुद्धि श्रेष्ठ ठहरती है, उदासीनता, निवृत्ति और उपेक्षासे विचारोंमें जड़ता आ जाती है। यंत्रों और धनकी महिमा बढ़ती है, घटपटकी शाब्दिक चर्चा बढ़ जाती है।

प्रत्येक महान् संस्कृति इन चार अवस्थाओंमेंसे गुजरी है। इन चार अवस्थाओंमेंसे गुजरनेपर उस संस्कृतिका कोई महान् भविष्य ही नहीं रहता। उसके बाद उस संस्कृतिके लोग या तो सारे जगत्में फैल जायँ या अपनी ही जगहपर अपनेको मूढ़स्थितिमें गाड़ रखें। स्पेंग्लरके मतसे जर्मनोंको छोड़कर शेष हिन्दू, मुसलमान, चीनी, यूरोपियन, अमेरिकन, मेक्सिकन आदि लोगोंका आगे कुछ भी भवितव्य नहीं है। हिन्दू, मुसलमान और चीनी लोगोंको तो आगे किसी न किसी अन्य राष्ट्रकी गुलामीमें ही रहना पड़ेगा। दुर्दैवने उन्हें पूरी तरह निगल लिया है।

मानव-संस्कृतिका प्रत्येक आत्मा संस्कृति और भौतिक सुधार ये दो रूप धारण करता है। उनमें क्रम है। पहले संस्कृति (Culture) और फिर सुधार (Civilization)। संस्कृतिमें काव्य, धर्म, कायदे-कानून, राज्य, प्रभुत्व,

श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भाव, आज्ञा-पालन, यज्ञ, मंत्र, प्रार्थना, नाट्य, संगीत आदिके रूपोंमें जीवन-स्फूर्ति प्रकाशित होती है। सुधारके युगमें स्फूर्ति मन्द हो जाती है। विज्ञान और यंत्र, अर्थ और स्वास्थ्यकी तरफ प्रवृत्ति होती है। रूक्ष बुद्धिवाद, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, समता, उदारमतवाद, प्रजा-सत्ता आदि ढीले विचारोंका उफान आजाता है। भावना और श्रद्धा, निष्ठा और आज्ञा-पालन, संगठन और कायदे-कानून, इनका लोप होने लगता है, पर्यंक-पण्डित चमकने लगते हैं, जीवन थीज जाता है, रक्त गाढ़ा हो जाता है, सर्वांग बधिर—शववत् हो जाता है।

स्पेंग्लरने यह संस्कृति-मीमांसा गूढ़वाद (रहस्यवाद) पर खड़ी की है और पुरुष-सूक्तमें* प्रकट की हुई विराट् पुरुषकी कल्पनाका ही अधिक उत्तम रीतिसे और विस्तारपूर्वक परिष्कार किया है। उसने जिस संस्कृति-पुरुष अथवा समाज-आत्माकी कल्पना की है वह एक काव्यमय कल्पना-निर्मित गूढ़-तत्त्व है। शास्त्रीय जाँचकी कसौटीपर वह खरा नहीं उतर सकता। यूरोपकी सामन्त-शाही समाज-रचना नष्ट होकर उसकी जगहपर जो पूँजीवादी समाज-रचना खड़ी हुई, उसकी कार्ल-मार्क्सने जो ऐतिहासिक भौतिकवादसे उपपत्ति बिठाई है उसकी सर्वांगीण तर्क-शुद्धता और प्रमाणपूर्णतापर विचार करते हैं तो तुलनामें स्पेंग्लरकी मीमांसा गूढ़, अस्पष्ट और अव्यक्त कल्पनाका विलास ही मालूम होता है। वह स्वयं ही कहता है कि विज्ञान और बुद्धिवाद अवनतिके लक्षण हैं। इसीलिए यह मीमांसा शास्त्र-पद्धति तक नहीं पहुँच सकती। स्पेंग्लर जर्मन नाजियोंका मुख्य तत्त्व-वेत्ता माना जाता है, इसलिए यहाँ उसके तत्त्व-ज्ञानका सार थोड़े शब्दोंमें दे दिया गया।

समाजके परिवर्तनका शास्त्र (Social Dynamics)

मानव-जाति-शास्त्रज्ञोंने मानव-समाजकी संस्कृतिका अभ्यास करनेके लिए तीन मुद्दोंका खुलासा करनेका प्रयत्न किया है:—१ मानवेतिहासकी रचना। २ ऐतिहासिक घटनाओंके विशिष्ट रूप (Types) और उन विशिष्ट रूपोंका क्रम। ३ ऐतिहासिक घटनाओंके परिवर्त्तनोंकी गतिका शास्त्र (Dynamics)। इस समय जो मानवेतिहास उपलब्ध है उसका, ऐतिहासिक विशिष्ट घटनाओंका, उन घटनाओंके क्रमका और ऐतिहासिक परिवर्त्तनोंकी गतिके शास्त्रका

* ऋग्वेद १०।९०, वाजसनेयी संहिता अ० ३०

निरूपण करनेका जिन पाश्चात्य समाजशास्त्रज्ञों और इतिहासज्ञोंने प्रयत्न किया है, उनमेंसे प्रसिद्ध समाज-शास्त्रज्ञ कार्ल-मार्क्सने इतिहासके गतिशास्त्रका सिद्धान्त बहुत अच्छी तरहसे उपपादित किया है। उन्होंने अपना सिद्धान्त अर्थ-शास्त्रकी समीक्षाकी प्रस्तावनामें (Introduction to Critique of political economy) और 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' (Communist Manifesto) में दिया है। उन्होंने समाज-रचनाके दो पहलू बतलाये हैं, एक तो समाजकी भौतिक नींव (Foundation), अधिष्ठान अथवा अधिकरण और दूसरा समाजका आध्यात्मिक प्रासाद (Super structure)। उत्पादनकी पद्धति और उस पद्धतिसे उत्पन्न होनेवाले मानव मानवके सम्बन्ध, यह समाजकी भौतिक नींव है। उत्पादनपद्धति अर्थात् मानव-जीवनके लिए उपयोगी साधनोंके निर्माणकी पद्धति। उत्पादनपद्धतिकी विशेषतासे समाजभुक्त मानवोंके विशिष्ट सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं। उत्पादन-पद्धति और मानव-गुटोंका अस्तित्व भौतिक है। अनाज, फल, वस्त्र, उपकरण, वनस्पति, हथियार, घर, वाहन, पशु, धातु, बर्तन-भाँड़े, यंत्र आदिके उत्पादन, विनिमय, विभाजन और व्यवस्था करनेकी पद्धतिसे श्रम-विभाग बनकर मानव-समाजमें गुट बन जाते हैं। उत्पादन-पद्धति और उससे उत्पन्न हुए मानव-वर्गोंकी नींवपर ही समाजका आध्यात्मिक प्रासाद खड़ा होता है। यह आध्यात्मिक प्रासाद क्या है? भाषा, विद्या, साहित्य, कला, कायदे-कानून, राज्य-प्रणाली और धर्म इन सबका समुच्चय। मनुष्यकी आध्यात्मिक शक्ति अर्थात् अन्तःकरण, यही इस प्रासादका मुख्य कारण होता है। मानसिक मूल्योंका ही इसमें अधिक हिस्सा रहता है। बुद्धि, भावना और आकांक्षाका ही इसमें प्रत्यक्ष विकास हुआ दिखलाई देता है। मार्क्सका कथन है कि धर्म विशिष्ट परिस्थितियोंके समाजके आध्यात्मिक प्रासादका एक हिस्सा है। इस आध्यात्मिक प्रासाद और उसके भौतिक अधिष्ठानमें अलगाव नहीं होता। इनका समवाय-संनिकर्ष है। समवाय-संनिकर्षका मतलब है अनेक वस्तुओंका नियमसे संमिश्र अथवा अविलग होकर रहना।

समाजका भौतिक आश्रय या अधिष्ठान बदला कि उसका आध्यात्मिक प्रासाद भी बदल जाता है। एक बदला कि दूसरा भी बदल जाता है।

उत्पादन-पद्धति और तज्जन्य सामाजिक वर्ग-पद्धतिका आध्यात्मिक संस्कृतिके साथ आश्रयाश्रयीभाव संबंध है। पूर्णताको पहुँचा हुआ समाज और पूर्णताको पहुँचा हुआ राज्य, यह वास्तविकतासे रहित निरी कल्पना है*। प्रत्येक सामाजिक रचना और संस्था विकासकी मालाकी एक कड़ी है। वह नष्ट होकर उसकी जगहपर दूसरी आ जाती है। प्रत्येक स्थिति उतने समय तक ही आवश्यक और न्याय्य होती है। एक विशेष काल-मर्यादाके बाहर उसका अस्तित्व अनावश्यक और अन्याय्य होता है। नई समाज-रचनाको मौका देकर पूर्ववर्ती समाज-रचनाको नष्ट होना ही चाहिए। जिस तरह पूँजीवादी समाज-रचनाके आनेपर सामन्तशाही समाज-रचनाके ध्येय कोहरेके समान फट गये और संस्था फूटी हुई नावकी तरह तलीमें जा लगी, उसी तरह पूँजीवादी समाज-रचनाको भी नष्ट हो जाना चाहिए। क्यों कि वह सामाजिक प्रगतिमें रुकावट डालने लगी है और उसकी उपयोगिता भी समाप्त हो चुकी है। प्रत्येक सामाजिक स्थिति सापेक्षतासे ही आवश्यक और न्याय्य ठहरती है।

जो बात समाज-रचनाको लागू है वह मानवी विचार और क्रियाको भी लागू है। कोई भी विचार सम्पूर्ण नहीं होता। विचार-सरणि विकासकी निम्न अवस्थासे ऊपरकी अवस्थामें जाती रहती है। उसमें सम्पूर्णता कभी नहीं आती। श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर, इस तरह तारतम्यकी अनन्त परम्परा रहती है। यदि कोई हाथ पसार कर कृतार्थ बुद्धिसे यह मानकर कि अब सम्पूर्ण सत्य मेरे हाथ लग गया किसी विशिष्ट विचार-सरणिका आलिंगन करने लगे, तो वह ठगाये बिना न रहेगा। जो बात विचारोंकी है वही भावना और ध्येयकी समझनी चाहिए। तत्त्ववेत्ताओंने और धर्म-संस्थापकोंने निःश्रेयस और मोक्ष कहकर जो ध्येय ठहराये थे, वे भी इतिहासमें बदले हुए दिखलाई देते हैं। उदाहरणके तौरपर देखिए कि वर्तमान् शताब्दिमें इस देशमें राष्ट्र-वादके आनेपर जो राष्ट्र-वादी तत्त्व-वेत्ता हुए, उन्होंने उपनिषदों और गीतामें बतलाये हुए वैयक्तिक मोक्षको तो गौण गिना और राष्ट्रीय मोक्ष या सारी मानव-जातिका मोक्ष खोज निकाला। इस तरह जो लोग गीता और वेदको शाश्वत सिद्धान्त प्रतिपादन करनेवाला मानते हैं उन्होंने गीता और वेदको अशाश्वत ठहरा दिया।

---

* Ludwig Feuerbach p. 21 by F. Engles.

मार्क्सने मानव-इतिहासके समाजोंकी भिन्न भिन्न मंजिलें अथवा विशिष्ट रूप और उनका विकास-युक्त क्रम बतलाया है। उन विशिष्ट रूपोंको बतलाते समय समाजकी भौतिक अथवा आध्यात्मिक संस्कृतिका एक विवक्षित एकांगी लक्षण लेकर निरूपण नहीं किया, किन्तु भौतिक और आध्यात्मिक संस्कृतिका एकत्रित रूप ध्यानमें रखकर समाज-रचनाके विशिष्ट रूप, उनका क्रम और उस क्रमका मूल-गत सिद्धान्त निरूपित किया है। वे रूप और उनका क्रम इस प्रकार हैं—पहले गण-रूप साम्यवादी जन-समुदाय (Primitive Communist Society), पितृ-सत्ताक समाज (Patriarchal), पुरातन समाज (Ancient), सामन्त समाज (Fuedal), पूँजीवादी समाज (Capitalistic) और समाजवादी समाज (Socialistic)। ये भेद अति सामान्य हैं। इनके अवान्तर अथवा सम्मिश्र भेद उन उन भौतिक, ऐतिहासिक और परिस्थितियोंकी विशेषतासे होते हैं। इस तरहके अनेक समाज इस पृथ्वीपर भूतकालमें थे और वर्तमान् कालमें मिलते हैं। उपरिनिर्दिष्ट भेदोंमें तदनुरूप ही धर्म-संस्थाका विशिष्ट भेद होता है।

गणरूप वन्य (जंगली) और अर्द्ध-वन्य प्राचीन समाजोंके अनेक अवशेषोंका अध्ययन मानव-जाति-शास्त्रज्ञ कर रहे हैं। वर्तमान् समयमें भी अनेक वन्य और अर्द्ध-वन्य मानव-समूह पृथ्वी-तलके सभी खंडोंमें मिलते हैं। शास्त्रज्ञोंने उनका भी अध्ययन किया है। आफ्रिका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, और एशिया खंडके उच्च-नीच सांस्कृतिक सीढ़ियोंपर स्थित मानव-समूहोंके धर्मों और संस्कृतियोंका अध्ययन गत अढ़ाईसौ वर्षोंसे हो रहा है। उससे यह निश्चय किया जा सकता है कि समाजकी भौतिक विशिष्ट रचनापर और योग्यतापर ही धार्मिक संस्कृतिकी योग्यता अवलम्बित रहती है। प्रत्येक समाजके धार्मिक विधि-निषेध, धार्मिक भावना, उपासना, कर्म-कांड, उत्सव, यात्रा और देवता आदिका स्वरूप उसके जीवनसे, खासकर भौतिक जीवनसे और रचनासे मिलता जुलता होता है। टॉयलर, फ्रेज़र, स्पेन्सर, एण्ड्र्यू लंग, डुरखीम, मॅरेट, मॅलिनोस्की, बेवर, टॉनी, मुलर आदिने यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, आफ्रिका, हिन्दुस्तान आदि स्थानोंके मानव-समूहोंके धर्मोंकी जाँच करके उनका जो स्वरूप बतलाया है उससे उक्त विधानकी पुष्टि होती है

२ धर्मोत्पत्ति-विषयक आधुनिक उपपत्ति

अथवा

धर्म-मूल

समाजमें जिन कारणोंसे धर्म अस्तित्वमें आता है वे कारण और धर्मके बिलकुल प्राथमिक स्वरूप ही धर्मके मूल हैं। संसारमें ऐसा कोई भी पिछड़ा हुआ या सुधरा हुआ समाज नहीं मिलता जिसमें धर्म न हो। प्राथमिक परिस्थितियोंके प्रत्येक मानव-समूहमें जीवनके धार्मिक और व्यावहारिक (Sacred and Profane) ये दो विभाग दिखलाई देते हैं। * दूसरे शब्दोंमें इन्हें अलौकिक और लौकिक भी कह सकते हैं। ऐसे परम्परागत कर्मकाण्ड, आचार अथवा नियम प्रत्येक प्राथमिक परिस्थितिके समाजमें पाये जाते हैं जो पवित्र और पूज्य माने जाकर श्रद्धापूर्वक आचरण किये जाते हैं और विशिष्ट विधि-निषेधोंकी मर्यादासे बद्ध होते हैं। इन आचारोंका सम्बन्ध रहस्यमय अलौकिक शक्ति, जादूका सामर्थ्य, पाप-पुण्य, आत्मा, भूत-राक्षस, पितर, गन्धर्व, यक्ष, देवता आदि कल्पनाओंसे रहता है। यही जीवनकी अलौकिक बाजू है। दूसरी लौकिक बाजूमें शिकार, वन-संचार कृषि, फल-संचय, जहाज़रानी, युद्ध, हथियार बनाना आदि व्यावहारिक क्रियाएँ आती हैं। विज्ञानमें जिस तरहकी बुद्धिका उपयोग किया जाता है उसी प्रकारकी चौकस बुद्धि इसमें लगानी पड़ती है। इस लौकिक व्यवहारमें लोग कार्य-कारणके नैसर्गिक क्रमका सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं। उनका नियम-बद्धतापर दृढ़ विश्वास होता है। प्राथमिक स्थितिके गणोंके समान सुधरे हुए समाजोंमें भी ये दो तरहके विभाग दिखलाई देते हैं। सुधरा हुआ समाज

जीवनके दो भाग, लौकिक और अलौकिक

---

* Science Religion and Reality pp. 1, 31 by Malinowski.

अलौकिक विभागको स्वर्गका, मोक्षका, परमार्थका अथवा अध्यात्मका मार्ग कहता है। यह अलौकिक क्षेत्र ही धर्म-विचारोंका विषय है।

धार्मिक जीवन व्यावहारिक जीवनमें मिला जुला होता है। व्यावहारिक क्रियाओंके साथ धार्मिक बुद्धि-क्रिया-भावनाओंका सम्बन्ध है। इसलिए कितने ही धर्मतत्त्वज्ञ सभी मानवी क्रियाओंको धर्माधर्मके क्षेत्रमें ला छोड़ते हैं। इन तत्त्ववेत्ताओंने यद्यपि सारी मानसिक और शारीरिक क्रियाओंको धर्मसे जोड़ दिया है तथापि समाजके सामान्य लोग अलौकिक और लौकिक वस्तुओंको भिन्न मानकर ही व्यवहार करते हैं। कुछ थोड़ेसे ही लोग धार्मिक दृष्टिकोणसे सम्पूर्ण जीवनकी ओर देख सकते हैं। यह सच है कि सुधरे हुए समाजके धार्मिक तत्त्व-ज्ञानमें जगत् और जीवनका सम्बन्ध अलौकिक धार्मिक-तत्त्वके साथ जुड़ा हुआ होता है, परन्तु परम्परासे सारा मानव-व्यवहार धर्मबद्ध है, ऐसी विचार-सरणि उस समाजमें सर्व-मान्य होती है, यह नहीं कहा जा सकता। सर्व-साधारण सामाजिक व्यवहारमें इस विचार-सरणिको महत्त्व नहीं मिलता। वन्य समाजमें भी अलौकिक वस्तुओंकी कल्पनाके क्षेत्र विभाजित रहते हैं। वन्य मनुष्य भी यह समझते हैं कि खेत जोतना, समयपर बीज बोना, खात डालना, भूमि जलाना, भूमिकी परख करना, फसलके कीड़े मारना, नौका बनाना, पौधे लगाना, ढोरोंकी परवरिश करना आदि क्रियाएँ धार्मिक क्रियाओंसे निराली हैं। जल बरसानेके लिए, फसल ठीक आनेके लिए, अतिवृष्टि टालनेके लिए, समुद्री और खुश्की यात्राके अकल्पित संकट टालनेके लिए और संसारको सुखी करनेके लिए जो धार्मिक विधियाँ की जाती हैं, वे निराली हैं। धार्मिक विधियोंका व्यावहारिक कर्मोंसे संबंध भर रहता है। यह बात सभी समाजोंपर लागू है।

सुधरे हुए धर्मकी पूर्व तैयारी

प्राथमिक स्थितिके समाजोंमें विज्ञान निर्माण हुआ नहीं होता परन्तु विज्ञान-निर्माण होनेके लिए आवश्यक पूर्व तैयारी वहाँ जारी रहती है। उसकी नींवका डाला जाना वहाँ शुरू रहता है। इसी तरह सुधरे हुए समाजमें जो धर्म-संस्था दिखलाई देती है उसकी पूर्व तैयारी प्राथमिक समाजमें होती रहती है। यह पूर्व तैयारी सुधरी हुई धर्म-संस्थाका मूल है।

जीवन-संबधी और जगत्-संबंधी विशिष्ट तत्त्व-ज्ञान प्रगल्भ समाजोंके धर्मकी नींव है, परन्तु प्राथमिक समाजोंके धर्ममें सारे जीवन और विश्वका संकलित विचार नहीं रहता। उस स्थितिके समाजकी शक्ति जीवनकी प्राथमिक जरूरतोंके पूरा करनेमें ही खर्च हो जाती है। उन जरूरतोंको पूरा करनेके लिए जितना विचार किया जा सकता है उतना ही वह करता है। उसके ध्येय बहुत नजदीकके रहते हैं। अन्न, रोग-निवारण, संकट-नाश, सन्तानका उत्पादन और उसकी रक्षा, इतनेमें ही उसकी शक्ति जवाब दे देती है, उतनेके लिए ही देवताओंकी, भूत-प्रेतोंकी अथवा अलौकिक शक्तियोंकी वह आराधना करता या सहायता लेता है। उस समय व्यवस्थित तत्त्व-ज्ञान और धर्मका निर्माण नहीं हो सकता; परन्तु उस स्थितिमें प्रगल्भ धर्मोंके बीज या मूल दीख पड़ते हैं, इसलिए उनका विचार करना आवश्यक होता है।

प्रश्न होता है कि जब आप हिन्दूधर्मकी समीक्षा कर रहे हैं तब वन्य-मनुष्योंसे लेकर सुधरे हुए समाजके धर्मोंके मूलगत-तत्त्वोंका विचार करनेकी क्या आवश्यकता है? उत्तर यह है कि हिन्दू-धर्मका स्वरूप अत्यन्त उलझा हुआ, बहुरूपी, ऊँची नीची सतहके सब समाजोंकी धर्म-संस्थाओंसे मेल खानेवाले आचार विचारोंसे खचाखच भरा हुआ है, इसलिए उसकी समीक्षा ठीक तरहसे करनेके लिए इस चर्चाकी जरूरत है। धर्मके गहन स्वरूपका स्पष्टीकरण उसकी जुदी जुदी अवस्थाओंका विचार करनेसे ही होता है।

ऐहिक आवश्यकताओंसे धर्मकी उत्पत्ति

मानवी जीवनके दो रूप (Aspects) हैं, भौतिक जीवन और सामुदायिक जीवन। इस द्विविध जीवनके लिए भौतिक और सामाजिक शक्तियोंकी सहायताकी जरूरत रहती है। मानव जीवनमें भौतिक और सामाजिक जरूरतें अत्यन्त अपरिहार्य दिखती हैं। ये दो जरूरतें, ये दो इष्ट, धर्मके मूल हैं। इन दो जरूरतोंसे धर्मका निर्माण हुआ है।

(१) भौतिक जीवन अर्थात् शरीर-रक्षण, सचेतन अचेतन वस्तुओंका अथवा द्रव्य-गुण-कर्मोंका इन्द्रियों और मनसे स्वीकार और व्यवस्थित प्रजोत्पादन। यह जीवन भौतिक साधनाधीन रहता है। भूमि, अन्न, वनस्पति,

आच्छादन, वस्त्र, गृह, औषध, शस्त्र आदिकी जीवनको जरूरत रहती है। ये साधन, वर्षा, नदी, हवा, उष्णता, प्रकाश आदिके अधीन रहते हैं। इन सब वस्तुओंके लिए निरन्तर चिन्ता और झगड़ा करनेमें प्राथमिक स्थितिके सारे मनुष्य उलझे रहते हैं। निजी मानसिक और शारीरिक सामर्थ्यसे ही मनुष्यको इनकी प्राप्ति होती है। सृष्टिके कार्य-कारण-भावके ज्ञानकी प्राप्ति कर लेनेसे ही वह सृष्टिके साधनोंको प्राप्त कर सकता है। जीवित रहनेके लिए जो प्रयत्न चालू हैं उनमें सृष्टिके कार्य-कारण-भाव समझ लेनेकी ओर मानव-बुद्धि स्वभावतः प्रवृत्त होती है। यह संशोधक-बुद्धि मनुष्य-जीवनमें मूलभूत प्रेरक शक्ति है। इस प्रेरणा-शक्तिके कारण ही मनुष्य अमानुष सृष्टिकी अपेक्षा श्रेष्ठ हुआ है। इस शक्तिके कारण ही वह अनन्त सृष्टिपर धीरे धीरे विजय प्राप्त करता जा रहा है।

जब मनुष्य कार्य-कारण-भावकी खोजमें लगता है तब पहले तो उसे अपने आसपास होनेवाली और अपने दैनंदिन-जीवनपर प्रभाव डालनेवाली सृष्टिकी घटनाओंका वास्तविक अर्थ समझमें नहीं आता। सृष्टिकी शक्तियोंपर उसकी सत्ता नहीं चलती। सृष्टिकी शक्तियोंपर उसको इतनी सत्ता प्राप्त नहीं होती कि वह उससे अपना भविष्य अच्छी तरह गढ़ सके। मनुष्य अपनी कक्षासे बाहरकी निसर्ग शक्तियोंके वास्तविक स्वरूपकी, कार्य-कारण-भावकी जानकारी प्राप्त करनेके लिए बहुत ही उत्सुक रहता है। क्यों कि निसर्ग-शक्ति उसके जीवनपर अनुकूल और प्रतिकूल आघात करती रहती है। सूर्य-चन्द्रका उदय और अस्त होना, उषःकाल, ग्रहण, मेघ, वर्षा, ऋतुएँ, वनस्पतियाँ, पशु-वर्ग, भूकम्प, समुद्री तूफान, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, झंझावात, संक्रामक रोग, तरह तरहकी शारीरिक व्याधियाँ, जन्म, मृत्यु आदिका असर मनपर होता रहता है। भय, आनन्द, विस्मय, विषाद, शोक, प्रतीक्षा, उत्कण्ठा, प्रीति आदि भावनाओंका उद्रेक ऐसी ही परिस्थितियोंमें अन्तःकरणमें हुआ करता है। इन विचार-विकारोंके अनुभवके संस्कार, उसके हृदयमें गहरे अंकित हो जाते हैं। उसे ये अनुभव चैन नहीं लेने देते। उसकी खोज करनेकी वृत्ति जाग्रत हो जाती है। चारों ओरकी परिस्थितियोंका कार्य-कारण-भाव जाननेकी उत्कण्ठा बढ़ जाती है। उससे अनेक आभास और कल्पना-तरंगें उठा करती हैं। वास्तव-ज्ञानके

क्षेत्र अतिशय मर्यादित होनेके कारण भ्रान्त और विपर्यस्त विचार-सरणि उत्पन्न होती है। निसर्ग-शक्तिके स्थानमें मन अलौकिक शक्तियोंका और व्यक्तियोंका (Supernatural forces and personalities) आरोप करता है। निसर्ग-शक्तिके कामोंको मन अलौकिक व्यक्तियों या शक्तियोंका चरित्र ठहरा लेता है। ऊल-जलूल और विक्षिप्त कल्पनाओंके जाल बुनकर मन सृष्टिका अर्थ ठहराता है।

वास्तविक और लौकिक अनुभवसे बनी हुई कल्पनाओंकी विपर्यस्त रचनासे ही मन अलौकिक शक्ति और व्यक्तिकी कल्पना निर्माण करता है । अलौकिक शक्ति और व्यक्तिके विषयमें बनी हुई कल्पनाओंका यदि पृथक्करण किया जाय, तो उस कल्पनाका प्रत्येक अंश वास्तविक अनुभवसे निर्माण हुई कल्पना ही होता है। कवि-कल्पनाओंका पृथक्करण करनेसे समझमें आ जाता है कि इन अलौकिक कल्पनाओंका पृथक्करण कैसे करना चाहिए।

उन कल्पित शक्तियों और व्यक्तियोंके विषयमें भय, आदर, शरणागति, प्रीति आदि भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। पदपदपर असहायता और निराधारताकी जानकारी होनेसे मनुष्य उन शक्तियोंसे सहायता लेनेके लिए दो तरहके प्रयत्न करता है—एक तो उनको अपने अधीन करनेका अथवा दूसरा उन्हें मना लेनेका। इस प्रयत्नको ही धार्मिक कर्म कहते हैं। अपने अधीन करनेकी क्रिया अर्थात् साधना और मनानेकी क्रिया अर्थात् आराधना। साधनात्मक क्रियामें जादू (Magical rites) और आराधनामें भक्ति मुख्य है।

यहाँपर जादू शब्दका प्रयोग व्यापक अर्थमें किया गया है। मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, अभिचार, कृत्या, जारण, मारण, उच्चाटन आदि तन्त्र-शास्त्रोंकी और अथर्व-वेदकी क्रियाओंका इसमें अन्तर्भाव होता है। वेदोंके बहुतसे यज्ञोंकी जाँच की जाय तो उनमेंकी बहुत-सी क्रियाएँ ऐसी हैं कि उन्हें 'यातु' शब्दसे बोधित किया जाना चाहिए। वर्षा, धान्य-समृद्धि, पशु-वृद्धि, सन्तान-प्राप्ति, रोग-निवारण, कुटुम्ब-ग्राम-देशादिके संकटोंका नाश, शत्रु-दलन आदि साध्योंकी सिद्धिके लिए जो विशिष्ट कर्म बतलाये जाते हैं उनका जादूमें समावेश होता है। उन कर्मोंके योगसे अद्भुत शक्तियोंपर गूढ़-रीतिसे अधिकार

प्राप्त किया जाता है। उन शक्तियोंको अपनी इष्ट-सिद्धिके लिए काम करनेमें प्रवृत्त करना, यह इन कर्मोंका उद्देश्य होता है।

आराधना अर्थात् मनको अपने अनुकूल करनेकी अथवा शरण जानेकी क्रिया। आराधनाकी जड़में यह विश्वास रहता है कि अलौकिक शक्तियोंकी और व्यक्तियोंकी मौज़पर—इच्छापर और कृपापर इष्टसिद्धि अवलम्बित है। पूजा, हवन, नमस्कार, दान, श्राद्ध, जप, प्रार्थना, गुण-संकीर्तन, भक्ति आदि क्रियाएँ आराधनाके अन्तर्गत आती हैं।

साधना और आराधनाके लिए कर्म-काण्ड व्यवस्थित रीतिसे रचा जाता है, मन्त्र-तन्त्रके विधान तैयार होते हैं, स्तोत्र, कथा और पुराण बनते हैं। विशिष्ट सम्प्रदाय अथवा परम्परागत आचार निर्माण होते हैं।

(२) धर्मके साथ भौतिक जरूरतोंका क्या सम्बन्ध है और उनसे धर्म कैसे निर्माण होता है, इसका संक्षेपमें विवरण किया गया। सामाजिक जीवन मानव-जीवनका दूसरा रूप (aspects) है। मनुष्यकी भौतिक जरूरतोंकी पूर्ति उसके सामुदायिक जीवनमें ही होती है। यह सामुदायिक जीवनकी आवश्यकता धर्मका दूसरा मूल है। सामुदायिक सम्बन्धको मानव-जीवनका आधार ही समझना चाहिए। विचार, भावना, भाषा, साहित्य, कला, पोषण-संरक्षणके साधन, आचार और नीति आदि जो कुछ व्यक्तिमें प्रशस्त और अप्रशस्त है; वह सब सामाजिक ही होता है। उसमें व्यक्तिका हिस्सा अल्प रहता है। यह सामुदायिक जीवनकी संवेदना प्राथमिक संस्कृतिके व्यक्तियोंमें बहुत तीव्र होती है। व्यक्तिका अहंकार सामाजिक संवेदनामें मिला हुआ रहता है। इसका कारण बिलकुल स्पष्ट है। उस समय सारी गुजर-बसर प्रत्यक्ष समुदायके आश्रयमें होती है। आहार और विहारके साधन समुदायाश्रित रहते हैं। परम्पराका संरक्षण करना जितना जरूरी होता है उतना ही कठिन। इसलिए सारी जमातकी जमात परम्पराका रक्षण करनेमें तत्पर रहती है। जमातके और व्यक्तिके संकटोंकी जवाबदारीकी भावना जमातमें बहुत तीव्र रहती है। अलौकिक शक्तियोंका कोप न हो और उनकी कृपा बनी रहे, इस लिए साधना और आराधना, इन धार्मिक कर्मोंको समुदाय ही अमलमें

लाता है। उस स्थितिकी जमातोंमें सामाजिकजीवनके भले बुरे प्रसंगोंका वास्तविक अर्थ समझनेकी पात्रता नहीं होती। इसलिए उन्हें सामाजिक उथल-पुथलके पीछे अलौकिक शक्तियोंका हाथ है, ऐसा मालूम होना स्वाभाविक है। सामाजिक कर्त्तव्य अथवा सामाजिक नियम उन शक्तियोंकी भीति या प्रीतिसे पाले जाते हैं। प्रत्येक जमातका विशिष्ट देवता होता है। उस विशिष्ट देवताका स्वरूप, उन जमातोंकी विचार-सम्बन्धी पात्रताके अनुसार कल्पित रहता है। उनकी विचार-सामग्री जितनी होती है और विचारोंका संग्रह जितना रहता है उतनेपर ही उनका धर्म खड़ा किया जाता है। इस धर्ममें गण-जीवनसम्बन्धी उत्कट भावनाओंका आविष्कार होता है। जात-कर्म, नाम-करण, अन्न-प्राशन, गण-दीक्षा (Initial Ceremony), विवाह, अन्त्य-विधि, त्यौहार, मौसमोंके उत्सव, सामुदायिक भोज, युद्ध-विजयोत्सव, न्याय-सभा, (Tribal Courts) आदि धार्मिक कर्म सामाजिक भावनाके ही आविष्कार हैं। जमातके नियम और आचार पवित्र (sacred) होते हैं और उनकी पीठपर अलौकिक (supernatural) शक्तियोंका अधिष्ठान रहता है! प्राथमिक जमातों (Primitive societies) का यही विश्वास होता है। सामाजिक जीवन धर्मका दूसरा मूल है। यह बात प्राथमिक (Primitive) अथवा सुधरे हुए (Civilized) समाजोंके धार्मिक जीवनके निरीक्षणसे सिद्ध होती है। इसीलिए सामाजिक जीवन जिस परिमाणमें विकसित अथवा अवनत होता है उसी परिमाणमें धर्म भी विकसित और अवनत होता है। क्योंकि जीवन अनुभवका आधार है और अनुभव धर्मका।

पारलौकिक धर्म-कल्पनाका उदय

पारलौकिक गतिपर और पारमार्थिक जीवनपर जोर देनेवाले धर्म समाजके इतिहासमें देरसे उत्पन्न हुए हैं। पहले तो धर्म ऐहिक आवश्यकताओंके लिए उत्पन्न हुआ* और फिर कुछ समय बाद उसमें पारलौकिक स्थितिको प्रधानता मिली।

मृत्युके अनन्तर जो स्थिति प्राप्त होती है, अथवा इस शरीरसे अलग और जगत्से बाहर जो स्थिति होती है उसे पारलौकिक स्थिति समझना

* Science Religion and Reality, p, 42. Religion of the Semites, by Robertson Smith.

चाहिए। इस स्थितिकी कल्पना अनेक कारणोसे उत्पन्न हुई। पहला कारण,—जीव या आत्मा देहसे निराला है और वह देहके बिना भी रह सकता है। इस कल्पनाका उदय होनेसे पारलौकिक स्थिति और पारलौकिक ध्येयोंकी कल्पना उत्पन्न हुई। दूसरा कारण,—जब ऐसा मालूम होने लगा कि रूढ़ धार्मिक मार्गसे ऐहिक साध्य प्राप्त नहीं होते हैं तब मनने रूढ़ धार्मिक मार्गके साथ पारलौकिक ध्येयोंका सम्बन्ध जोड़ दिया। तीसरा कारण,—जिन कामनाओंकी तृप्ति इस जीवनमें होना अशक्य दिखता है उनकी तृप्तिके लिए मनने इस जगत्की अपेक्षा एक और निराला जगत् निर्माण किया। उसीको परलोक कहते हैं। मनुष्यके ऐहिक जीवनकी दुर्बलता और विफलतासे परलोकका जन्म होता है और उस परलोकका निर्माण इसी जगत्की परिस्थितिके अनुभवसे होता है। अनुभवका क्षेत्र जितना विस्तृत और शक्ति जितनी अधिक होती है परलोक भी उतना ही विस्तृत और शक्तिशाली निर्म्माण होता है। प्रत्येक धर्म-संस्थाका परलोक भिन्न प्रकारका होता है, क्योंकि प्रत्येक धर्म भिन्न और विशिष्ट सामाजिक स्थितियोंमें पैदा हुआ है। चौथा कारण,—समाजमें ऐसे वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं कि जिनके हितसम्बन्ध अथवा स्वार्थ धर्मकी पारलौकिक विचार-सरणिके आधारपर सुरक्षित रह सकते हैं। इन सत्ताधारी उच्च वर्गोंके लिए लाभकारी समाज-रचनाके प्रचलित निर्बन्ध (Laws) परमेश्वरके द्वारा अथवा अलौकिक शाश्वत नियमोंके द्वारा निर्माण हुए हैं, ऐसा विश्वास कायम रखनेका प्रयत्न अधिकारी गण किया करते हैं। सामान्य जनता कुछ कालतक निरुपाय होकर इन निर्बन्धोंके आगे झुकी रहती है। जो समाज-रचना और कायदे-कानून उसकी दीनता और अधःपातके कारण होते हैं, उनके आगे वह ईश्वरीय संकेत समझकर प्रणाम करती रहती है। यह भावना बहुत गहरी जमी रहती है कि इस जन्ममें सत्कर्म करेंगे तो मृत्युके बाद सब कुछ ठीक हो जायगा और सत्कर्म न करेंगे तो दैवी कोप होगा। वर्त्तमान समाज-रचनाके पोषक जो विधि-निषेध हैं; वही सत्कर्म कहलाते हैं। उन्हें स्थायी मूल्य और दिव्यत्व प्राप्त रहता है और उसके कारण श्रद्धा और भावनाको भी शाश्वत मूल्य मिल जाता है। यथार्थमें देखा जाय तो श्रद्धा और भावना, इनके विषय और रूप हमेशा बदलते रहते हैं। जब तक इस प्रकारका विचार नहीं आता कि मनुष्य अपने पुरुषार्थसे वर्तमान समाज-स्थितिकी अपेक्षा

श्रेष्ठ समाज-स्थिति निर्माण कर सकता है तब तक धर्म-संस्था स्थिर रहती है। यह विचार ही धर्म और ईश्वरके विरुद्ध विद्रोह खड़ा करता है। जब समाज-शास्त्र मनुष्यके पुरुषार्थके विषयमें विश्वास निर्माण करता है, तब धार्मिक और ईश्वरविषयक स्वप्न लुप्त होने लगते हैं। ईश्वर और मानव-पुरुषार्थका झगड़ा बहुत पुराना है। सामाजिक जीवनपर विज्ञान-युगका अधिकार स्थापित होनेपर ही इस झगड़ेका फैसला होगा। समाज-वादी क्रान्ति हुए बिना विज्ञानका अधिकार स्थापित नहीं होगा और विज्ञानके अधिकारके बिना समाजका जंगलीपन और पशुत्व नष्ट होनेवाला नहीं।

पारलौकिक कल्पनाओंके आधारसे विश्वका तत्त्व-ज्ञान बतलाकर समाजका नियंत्रण करनेवाली धर्म संस्थाएँ सुधरे हुए समाजोंमें बहुत बड़ी तादादमें उत्पन्न हुईं। इन धर्म-संस्थाओंकी पूर्व तैयारी वन्य-समाजोंमें हुई। इन संस्थाओंका गढ़ना युग युगसे हो रहा है। इन संस्थाओंकी पूर्व-तैयारीको ही धर्म-मूल कहना चाहिए। इस धर्म मूलका विचार अनेक पाश्चात्य पंडितोंने किया है। प्रत्येकने अलग अलग दिशाओंमें अध्ययन करके अलग अलग उपपत्ति बतलाई है। यह प्रत्येक उपपत्ति महत्त्वकी है। इनमें विरोधकी अपेक्षा परस्पर पूरकता ही अधिक है। धर्मके किसी विशिष्ट अंगपर जोर देनेके कारण इनमें विरोध दिखलाई देता है। अवलोकनका क्षेत्र बदलनेसे भी फर्क पड़ा है। कहीं कहीं मूल-भूत दृष्टिकोण ही निराला है। पाश्चात्य पंडितोंकी धर्मोंके उत्पन्न होनेकी इन उपपत्तियोंका सारांश यदि यहाँ दे दिया जाय, तो असंगत न होगा।

सर टायलरका मूर्त्तजीववाद या वस्तुपुरुषवाद

ऐतिहासिक दृष्टि-कोणसे धर्मोद्भव और धर्म-विकासका मनन करनेके लिए अत्यन्त उपयोगी शास्त्र सबसे पहले सर एडवर्ड टॉयलरने लिखा। उनकी उपपत्तिको वस्तुपुरुषवाद (Personalism) अथवा मूर्त्तजीववाद (Animism) कहते हैं। प्राथमिक संस्कृतिके लोगोंमें यह भावना रहती है कि प्रत्येक सजीव अथवा निर्जीव वस्तुमें कोई न कोई पुरुष, भूत अथवा जीव, रहता है; वही उस सजीव अथवा निर्जीव वस्तुको हिलाता डुलाता है, वही उस वस्तुका

नियन्ता है और उस वस्तुसे जुदा होता है। यह भावना अथवा समझ उनके धर्मका आधार होती है। प्रत्येक वस्तु या मूर्त्त पदार्थमें एक एक पुरुष या जीव होता है। ऐसी माननेवाली विचार-सरणिको वस्तु-पुरुष-वाद या मूर्त्त-जीव-वाद कहते हैं।

असंस्कृत प्राकृत मनुष्योंके अनाड़ी मनमें यह समझ उत्पन्न होती है। स्वप्न, भास, उन्माद, (Cataleptic States) आदि विचित्र मानसिक स्थितियोंका विवरण करके यह तत्त्व-ज्ञान प्राकृत मनुष्योंका किया हुआ होता है। शरीर सोया हुआ पड़ा रहता है, परन्तु स्वप्नोंके अनुभव बिलकुल उल्टे होते हैं। वह देश-विदेशोंमें भ्रमण करता है, दरिद्र होकर भी उस समय अमीरीका अनुभव करता है, शिकार खेलता है, साँप उसकी गर्दनसे लिपट जाता है, उसपर बाघ टूट पड़ता है, जाग्रत अवस्थामें झिड़क देनेवाली रमणी प्रसन्न होकर उससे लिपट जाती है, देह कैदमें होनेपर भी स्वतंत्रताका अनुभव होता है। इससे खयाल होने लगता है कि देहके साथ विसंगत लगनेवाले व्यवहारों और विषयोंका भोक्ता तथा साक्षी कोई और ही है। जिस तरह मूसमें धातु-रस भरा रहता है, उसी तरह यह देहमें समाया हुआ है। इस देहमें भीतर बाहर चक्कर लगानेवाला यह पुरुष-रस, हवा, कुहरा, छाया, प्रतिबिम्ब, दीपक अथवा ज्योति जैसा है; ऐसी भावना होती है। उपर्युक्त भावनाओंके पोषक अनुभव जागते हुए भी होते हैं। हाल ही मरे हुए प्रियजनकी अथवा अपने द्वारा ही मारे गये कट्टर शत्रुकी मूर्त्ति आँखोंके सामने आती दिखती है, मृत प्रियजनसे पुनर्मिलन हुआ जैसा लगता है, उसकी आवाज सुन पड़ती है, कोई पुकारता है ऐसा अनुभव होता है, मरा हुआ शत्रु बदला लेनेकी धमकी देता हुआ दिखता है। उन्मादमें तो असत्य और नष्ट सृष्टि चारों ओर नाचने ही लगती है, अनहोने रंग, अनहोनी आकृति, अनहोनी आवाज और अनहोने शत्रु-मित्रोंका प्रत्यय होने लगता है, पाँच पाँच दस दस पीढ़ी पूर्वके व्यक्तियोंसे साक्षात् होनेका विश्वास होता है। इस तरह विविध प्रकारकी मानसिक स्थितियोंमें देहसे पृथक्, परन्तु देहमें रहनेवाला और यथेच्छ संचार करनेवाला भूत है, ऐसा पक्का विश्वास मनुष्यको हो जाता है। उसे ही भूत, पिशाच, आत्मा, प्राण अथवा जीव कहते हैं। ये जीवात्मा जीवित अवस्थामें अथवा मरनेपर चढ़ बैठते हैं और भला बुरा

कर सकते हैं, ऐसा ख्याल होता है। जिन्दगीकी भली बुरी घटनाएँ इन्हींके कारण होती हैं, क्यों कि उन घटनाओंका वास्तविक स्वरूप समझमें नहीं आता। आज कल भी गाँव-खेड़ोंमें और भोले-भाले कुटुम्बोंमें प्रायः हरेक बीमारीका सम्बन्ध भूत-प्रेतोंसे ही जोड़ा जाता है। जीवात्माकी इस कल्पनासे ही देव, पितर, यक्ष, राक्षस अमरत्व, स्वर्ग-नरक, मोक्षकी कल्पनाएँ निकलीं। इसी कल्पनासे पशु, वृक्ष, वनस्पति, नदी, समुद्र, पर्वत आदिमें अपने ही समान एक जीवात्मा होता है, ऐसी मनुष्यने कल्पना की और उनमें जो कुछ हलन-चलन होता है वह उस जीवात्माके कारण ही होता है। उनके प्रबल जीवात्मा हमारे व्यवहारमें हाथ डालते हैं, विघ्न खड़े करते हैं अथवा यश भी देते हैं, ऐसा अपनी प्रवृत्तिसे मनुष्य अनुमान लगाते हैं। उनको सन्तुष्ट करनेके लिए अथवा उन्हें अपनी ओर प्रवृत्त करनेके लिए अनेक धार्मिक विधियाँ बनीं। मरे हुओंके आत्माओंको सन्तुष्ट करनेके लिए अथवा उन्हें अच्छी गति प्राप्त करानेके लिए अन्त्य-विधि, श्राद्ध, पुण्य-तिथि, समाधियाँ अथवा मकबरे बनाने आदिका पितृ-पूजा धर्म उत्पन्न हुआ। सृष्टिकी वस्तुओंमें रहनेवाले भूतोंकी आराधना ही देव-पूजा या देव-यज्ञ है। सारी धर्म-विधियों और धर्म शास्त्रोंके मूलमें वस्तु-पुरुष-वाद या मूर्त्त जीववाद (animism) है, ऐसा टॉयलरका मत है। उन्होंने इसकी चर्चा प्रिमिटिव्ह (Primitive Culture) कल्चर नामक ग्रन्थमें विस्तारसे और एन्थ्रोपोलॉजीमें (Anthropology) में संक्षेपसे की है।

इस विषयकी जो नई नई खोजें हुई हैं उनसे मालूम हुआ कि टॉयलरकी यह विचार-सरणि अपर्याप्त है। सर जेम्स फ्रेजरने अपने सुवर्ण-शाखा (Golden bough) नामक ग्रन्थके यातु-विद्या (Magic) शीर्षक अध्यायमें विस्तारके साथ इसकी चर्चा की है। उससे मालूम होता है कि मूर्त्त-जीववादकी अपेक्षा पिछड़ी हुई कल्पना प्राकृत धर्म-विधियोंमें है। उस स्थितिके मनुष्योंमें मूर्त्तजीव-वाद जैसा सिद्धान्त निकालने योग्य चिन्तनशीलता नहीं होती। यह मूर्त्त-जीववाद कुछ प्रगल्भ-संस्कृतिमें उत्पन्न होता है। शिकार, मछली मारना, पशु-पालन, खेती आदि काम-धन्धोंमें ही प्राकृत मन डूबा रहता है। उसे विचार करनेका अवसर ही कम मिलता है और जब मिलता है तब जमातके राग-रंग, उत्सव और दूसरी क्रीड़ाओंमें मन रम जाता है। उस स्थितिमें उत्पन्न होनेवाली

धार्मिक विधियोंकी जड़में जो भावना रहती है उसकी चर्चा डॉ० मेरेटने बड़ी अच्छी तरह की है, जो आगे बतलाई जायगी।

डॉ० मेलिनोस्की (Malinowski) ने अनेक पंडितोंद्वारा लिखित विज्ञान, धर्म और वस्तु (Science, Religion and Reality) नामक ग्रन्थमें मूर्त्त-जीव-वादकी स्वतन्त्र उपपत्ति बतलाई है। वह इस प्रकार है :—मृत्युका डर जिस प्रकार अन्य सब प्राणियोंमें रहता है उसी तरह जंगली मनुष्योंमें भी रहता है। इस डरका मूल आत्म-रक्षणकी प्रवृत्ति है। मृत्यु होते ही सब कुछ समाप्त हो जायगा, यह कल्पना ही साधारण मनुष्यको सहन नहीं होती। उसे ऐसा लगता है कि हमेशा ही जीता रहूँ। चिर-जीवनकी अथवा अमरत्वकी वासना, मौतकी भीति और सर्वनाशसे घृणा हर एकमें रहती है। हँसने, खेलने और बोलनेवाले सचेतन व्यक्ति देखते देखते चटसे समाप्त हो जाते हैं, परन्तु मनको यह समाप्त हो जानेकी कल्पना ही अच्छी नहीं लगती—जँचती नहीं। ऐसा लगता है कि वह स्थिति न होती तो अच्छा होता। ऐसे समयपर भावनाओंका तूफान उठता है। विषाद, उद्वेग, विरह-वेदनाके कारण शोकका पार नहीं रहता। जीवन और सबका फैसला कर देनेवाली मौतका दृष्टिगोचर होनेवाला द्वन्द्व मनमें विचारोंका झगड़ा उत्पन्न कर देता है। विरुद्ध भावनाओंसे लबालब भरे हुए मनको मृत्यु द्वेष्य जान पड़ती है और इसीसे मृत्युके बादके अस्तित्वका और अमरत्वका साक्षात्कार होता है। भरोसा हो जाता है कि देह-नाशके साथ व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता। इस उत्कट अस्ति-भावनामेंसे अनेक सामुदायिक क्रियाएँ अस्तित्वमें आती हैं और उन्हींको अन्त्य-विधि कहते हैं। मरनेके पहले और मरनेके बाद सब लोग इकट्ठे होते हैं और अन्तमें उसे ठिकाने लगाते हैं। जंगली स्थितिमें तो जमातको समाजका प्रत्येक घटक बहुमूल्य जान पड़ता है और इसलिए सारी जमात शोक-मग्न हो जाती है। उससे नज़दीकी लोगोंका दुःख हल्का हो जाता है। जमात जिन विधियोंका आचरण करती है उनसे जीवके अस्तित्वकी श्रद्धा दृढ़ होती है। पितरोंकी पूजा, उनका सार्वजनिक श्राद्ध-भोज और स्मारक-विधि, मरे हुओंके अस्तित्वकी खातिरी दिया करती है।

टॉयलरकी उपपत्ति बुद्धि-मूलक है और मॅलिनोस्कीकी भावना-मूलक।

भावना और बुद्धि इन दोनोंका ही उपपत्तिमें मुख्य अथवा गौण स्थान है। खालिस बुद्धि (intelect) और खालिस भावना (emotion), इनका पृथक् अस्तित्व मानस-शास्त्रियोंको मान्य नहीं है। डॉ० मॅरेट आदि पंडितोंका मत है कि मूर्त्त-जीव-वादके उदय होनेके पहले प्राथमिक संस्कृतिमें भी पहले अलौकिक शक्तिवाद (Supernaturalism) रहता है। इस वादको उपस्थित करनेके पहले यह जिस धर्म-चर्चासे निकलता है, देखना चाहिए कि वह क्या है। यह चर्चा सर जेम्स फ्रेजरने की है। उन्होंने महत्त्वके तीन मुद्दे उपस्थित किये हैं और आधुनिक मानव-जाति-शास्त्र उन तीन मुद्दोंका विचार किये बिना आगे पैर नहीं रखता। १—यातु-विद्या (Magic) का धर्म और विज्ञानसे सम्बन्ध। २—कुल लक्षण-पूजावाद (Totemism) से उत्पन्न होनेवाली प्राथमिक संस्कृतिकी समाज-धारणा। ३—सन्तति, कृषि और पशु-वृद्धिके लिए की जानेवाली धार्मिक विधि।

यातुविद्या और धर्म

'सुवर्ण-शाखा' की पहली आवृत्तिमें फ्रेजरने लिखा है कि जादू (Magic) धर्मकी बिलकुल पहली अवस्था है। बहुत-सी जंगली जातियोंकी यातु-विधिमें मूर्त्त-जीव-वादकी कल्पना नहीं रहती। उनमें इस कल्पनाका प्रवेश देरसे हुआ है। इसीलिए जादूको धर्मकी बिल्कुल पहली अवस्था बतलाया है। उक्त ग्रन्थके दूसरे संस्करणमें फ्रेजरने यातु-विद्याको विज्ञानकी पूर्वावस्था कहा है। सृष्टिकी शक्तियोंपर अधिकार करके उनका अपनी इष्ट-सिद्धिके लिए विनियोग करना विज्ञानका उपयोग है। जादूका भी उद्देश्य ऐसे ही कार्य करना है। विज्ञान निसर्गके नियमोंपर निर्भर करता है। विज्ञानको भरोसा रहता है कि निसर्गके नियमोंको योग्य-रीतिसे काममें लाया जाय तो वह निश्चय ही फलदायी होगा। जादूगर भी अपने मंत्र, तंत्र, यंत्रोंपर और उस क्रियासे संबद्ध प्रकृतिकी वस्तुओंके स्वभावपर ऐसा ही निर्भर करता है। जब जादूकी व्यर्थताकी खातिरी होने लगी, या जानकारी होने लगी तब धर्म उत्पन्न हुआ। प्रकृतिकी अलौकिक शक्ति लहरी स्वभावकी है, उसका कुछ ठिकाना नहीं। उसकी शरण जाना चाहिए, उसका मन अपने अनुकूल करना चाहिए, यही भावना धर्मको

जन्म देती है। फ्रेजरने धर्म और जादूकी विषमतापर और विज्ञान और जादूकी समानतापर जोर देकर धर्म, जादू और विज्ञानका मनोविज्ञान बतलाया है।

जादू, धर्म और विज्ञानके पौर्वापर्य्य अथवा साम्य-वैषम्यके विषयमें पंडितोंका मतभेद है। तो भी यह निश्चित है कि इनके बीज एकत्र मिलते हैं। बेबिलोनिया और भारतवर्षमें वैद्यक, कानून, जादू और धर्म एक ही धन्धेसे निर्माण हुए। इतिहास बतलाता है कि बेबिलोनियामें पहले वैद्यक जादू-टोनेके रूपमें था। भारतवर्षके अथर्ववेदमें बतलाये हुए ' अथर्व ' वैद्यक, जादू और पुरोहिताई ये तीनों काम करते थे। जादू, वैद्यक (चिकित्सित), धार्मिक-संस्कार और यज्ञ-याग ये क्रियायें एकत्र मिली हुई और एकमेक हुई स्थितिमें अथर्ववेद और कौशिक-गृह्य-सूत्रमें दिखलाई देती हैं। भारतवर्षमें तो कानून भी हजारों वर्षों-तक धर्मका ही भाग रहा है। उसका दैवी क्रियाओंसे और पारलौकिक गतिसे सम्बन्ध जुड़ा हुआ था। न्याय-निर्णयका दिव्य * या सौगन्ध एक प्रमाण था। न्याय-निर्णयका मुख्य अधिकार पुरोहितोंके हाथमें था।

फ्रेजरके बाद जर्मनीके प्रो० प्रेउस (Preuss), इंग्लैण्डके डॉ० मॅरेट (Marett) और फ्रांसके ह्यूबर्ट अटमॉस (M. M. Hubert Etmauss) ने जादू और धर्मका विवेचन किया है। उनके मतसे यातुविद्या (Magic) और विज्ञानमें मौलिक विरोध है। यदि कुछ साम्य है तो वह बिलकुल ऊपर ऊपरका है। विज्ञान अनुभव और प्रयोगसे उत्पन्न होता है, उसीपर अवलम्बित रहता है और बुद्धिवाद उसका निरन्तर दिग्दर्शक होता है। निसर्ग-शक्तियोंकी स्पष्ट कल्पनापर वह गढ़ा जाता है और उसका अध्ययन करनेका द्वार सबके लिए खुला रहता है। पर यातु-विद्या या जादूका इसमें सभी कुछ उल्टा होता है। गूढ़ भावना और अन्ध-श्रद्धाके वातावरणमें वह जीती है, गुप्त-रीतिसे सिखाई जाती है और अनाड़ी, भोली अज्ञानतासे उसका पोषण होता है। इस तरहके विश्वासके बिना उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता कि निसर्गमें विलक्षण गूढ़ विस्मय-जनक चमत्कारी शक्ति है। तात्पर्य यह कि धर्म-संस्थाके अत्यन्त प्राथमिक स्वरूपकी दृष्टिसे ही यातु-विद्याका समाज-शास्त्रमें स्थान है।

* जैसा सीताका अग्निमें प्रवेश करके अपना सतीत्व प्रमाणित करना।

ऊपर बतलाये हुए पंडितोंने सारे धर्मोंके मूलमें रहनेवाली भावना अथवा विचार-सरणिका अर्थ खोलनेका प्रयत्न किया है।

मॅरेटका अलौकिक शक्तिवाद

इसे अलौकिक शक्ति-वाद (Supernaturalism) संज्ञा दी गई है। प्राथमिक संकृतिकी जमातोंकी धर्मविधियों और भाषाओंका अध्ययन करके उन्होंने उपर्युक्त तत्त्व निश्चित किये हैं। मानवपर निसर्गकी शक्तियोंके अनुकूल प्रतिकूल आघात-प्रत्याघात होते रहते हैं। अनेक प्रसंग ऐसे होते हैं कि उनमें भय, विस्मय, चमत्कृति आदि विकार उत्पन्न होते हैं। बराबर ऐसा मालूम होता रहता है कि प्रकृतिमें विलक्षण, गूढ़ और न समझमें आनेवाला कुछ न कुछ जरूर है और यह भावना बहुत गहरा पैठी हुई है कि कोई ऐसा गूढ तत्त्व है जो हमारे संसारको नष्ट भ्रष्ट कर सकता है और उसे हरा-भरा बना सकता है। इस भावनाके पेटसे ही धर्म-संस्थाका जन्म हुआ। जादू, मंत्र, प्रार्थना, देवता, पवित्र ग्रन्थ, सत्पुरुष, तीर्थ, देश और भौतिक व मनुष्यके भीतर वास करनेवाली वस्तुओंकी पूज्यता या वन्दनीयता इसी भावनाका अवलम्ब करके सुधरे या पिछड़े हुए धर्ममें रहती है।

इसी विलक्षण शक्तिको पेसीफिक टापुओंमें विशेषतः मेलानेशियन जमातोंमें माना (Mana) कहते हैं। मानव-जाति-शास्त्रमें यह

टाबू और माना

शब्द बहुत रूढ़ हो गया है। प्रो० गिलबर्ट मरेने इस शब्दका अर्थ संक्षेपमें बहुत अच्छी तरह समझाया है। वे कहते हैं कि शक्ति, ओज, आदरणीयता, पूज्यता, पवित्रता, विस्मय-जनकता और जादूकी करामात ये सब अर्थ जंगली जमातोंके इस सुन्दर शब्दमें समाये हुए हैं। शूर पुरुष, जमातका सरदार, वैद्य, लड़ाईका तीक्ष्ण परशु, सिंह, उमदा घोड़ा, ओषधि, महानदी, पर्वत, उर्वरा-भूमि, मंत्र, जादू, धार्मिक कर्मकाण्ड आदिके भीतर यह विलक्षण-शक्ति निवास करती है। जब तक इन वस्तुओंमें कार्य-क्षमता रहती है, तब तक 'माना' रहती है। कार्यक्षमता लुप्त हुई कि 'माना' निकल गई। गीताके विभूतिवादका, मीमांसकोंके अपूर्व-वादका और वैशेषिकोंके धर्म-वादका बीज इस कल्पनामें है।

'माना' का उल्टा 'टाबू' (Taboo) शब्द है जो जंगली जमातोंकी संस्कृतिके विवेचनमें मानव-शास्त्रज्ञ काममें लाते हैं। 'टाबू' अर्थात् निषेध

या निर्बन्ध। जादूके अथवा दूसरे धार्मिक आचारों और व्रतोंके अमुक पदार्थ खाना नहीं, अमुक देखना नहीं, अमुक छूना नहीं, आदि निर्बन्ध 'टाबू' में आ जाते हैं। 'टाबू' शब्दके अर्थमें निर्बन्धके लिए कारण होनेवाली उन उन पदार्थोंकी विलक्षण निषेध-शक्ति भी शामिल है। उदाहरणार्थ प्याज और लहसुन न खानेका निर्बन्ध कैसे उत्पन्न हुआ, इसका गमक नहीं मिलता। प्याज और लहसुनमें ऐसा कोई तत्त्व है जिससे कि उनके खानेका निर्बन्ध किया गया है। यह तत्त्व अथवा शक्ति 'टाबू' है। एस्किमो जातिके लोग उत्तर ध्रुवके समीप रहते हैं। बर्फके पिघलनेपर सामरका शिकार करना और कड़ाकेकी ठंडमें सील मछलीका शिकार करना वे अनुचित समझते हैं। इसका भी कोई स्पष्ट कारण नहीं है। अत्यन्त अनाड़ी जातियोंमें भी माँ-बेटे और बहिन-भाईके व्यभिचारको बहुत भयंकर माना जाता है। वे इसका कारण स्पष्ट नहीं बतला सकते। परन्तु उन्हें टाबूका भय लगता है। इस तरह 'टाबू' निषेध करनेवाली एक वस्तु-निष्ठ शक्ति है।

सुधरे हुए समाजोंकी पवित्रता और अपवित्रता, शकुन और अपशकुन, शुभ और अशुभ लक्षण आदि कल्पनाओंके बीज 'टाबू' में मिलते हैं। 'माना' और 'टाबू' का अर्थ ध्यानमें रखनेसे यह मालूम हो जायगा कि इनमें सुधरे हुए विधि-निषेध, नीतिशास्त्र (Moral Principles) और न्याय (Justice) इन प्रगल्भ वस्तुओंके मूल हैं। सुधरे हुए सारे समाजों और राष्ट्रोंमें ऐसे अनेक रीति-रिवाज मिलते हैं, जिनकी उपपत्ति नहीं बिठाई जा सकती। उनका उगम जंगली जमातोंकी भ्रान्तियों ओर अज्ञानमें मिलता है। जंगली जमातोंके विधि-निषेधोंका तत्त्व 'माना' और 'टाबू' इन पारिभाषिक शब्दोंसे अच्छी तरह व्यक्त होता है।

कुल-चिह्न-पूजावाद अथवा देवकनिष्ठा

शास्त्रज्ञ कहते हैं कि 'माना' और 'टाबू' का उगम कुल-चिह्न-पूजावादसे या देवक-निष्ठासे हुआ है। ये दो कल्पनाएँ प्राथमिक अवस्थाके मनमें स्वाभाविक और स्वतः-सिद्ध नहीं होतीं। इसका कारण है कुल-चिह्न-पूजावाद (Totemism)। यह मूल या शुद्ध स्वरूपमें आस्ट्रेलिया-वासियोंमें मिलता है। चीन, हिन्दुस्तान, ईरान, अरबस्तान, यूरोप, अमेरिका आदि देशोंके सुधरे हुए और पिछड़े

हुए समाजोंमें कुल-चिह्न-पूजा दिखलाई देती है, परन्तु वह जैसी चाहिए वैसे मौलिक स्वरूपमें नहीं बची है। हिन्दू धर्ममें नाग, नन्दी, पीपल, बरगद, शमी, तुलसी, आँवला, आदि वस्तुओंकी जो पूजा प्रचलित है, उसके मूलमें कुल-चिह्न-पूजा ही है। उनका विवेचन अगले व्याख्यानमें किया जायगा।

प्राथमिक संस्कृतियोंकी सामाजिक संघटना और सामाजिक क्रियाओंका अध्ययन करनेके लिए कुल-चिह्न-पूजा-पद्धति (Totemism) का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। अनेक छोटे छोटे गुटोंके मिलनेसे एक जमात या समाज-संस्था बन जाती है। अवान्तर गुट अपनेको एक रक्तका समझता है। एक रक्तका समझनेवाला दल ही कुल है और प्रत्येक कुलका एक एक पूज्य प्रतीक होता है। यह प्रतीक मुख्यतः वृक्ष, वनस्पति, पक्षी, जलचर प्राणी, पशु और कभी कभी स्थावर जड़ वस्तुओंमेंसे होता है। इनमेंसे कोई भी एक चुन लिया जाता है। उसीके नामसे उस कुलका नाम प्रसिद्ध होता है। उस वस्तुमें और हममें सजातीयता है, ऐसी भावना उन सब कुलोंमें पाई जाती है। यदि वह प्रतीक गरुड़, सिंह, नाग अथवा नारियल हुआ, तो उन्हें लगता है कि हम गरुड़, सिंह, नाग अथवा नारियल जातिके हैं। उनका विश्वास रहता है कि हमारा कुल उसीसे उत्पन्न हुआ है अथवा हमारा पूर्वज उसीमेंसे आया अथवा वही है। हमारा कुल फले फूले, उस पूज्य प्रतीक पदार्थकी समृद्धि हो और हमारे कुलकी संकटसे रक्षा हो, इस भावनासे उस पूज्य वस्तुके अनेक उत्सव और त्यौहार उन कुलोंमें मनाये जाते हैं। वह प्रतीक उस कुलकी सारी भावनाओंका आधार होता है। उस प्रतीककी साक्षीसे सामाजिक और धार्मिक विधियाँ चलती हैं। उस प्रतीककी जातिकी वस्तु, प्राणी अथवा वनस्पतिको मारना नहीं, खाना नहीं अथवा उत्सवके साथ या विधि-पूर्वक ही मारना या खाना, ऐसा नियम कड़ाईके साथ पाला जाता है। उस प्रतीकके सम्बन्धसे बहुतसे सामाजिक रीति-रिवाज उत्पन्न होते हैं। सूर्य, चन्द्र, नदियाँ, पर्वत ये भी प्रतीक हो सकते हैं। कुल-प्रतीकको देवक कहते हैं।

यह कुलप्रतीकोपासना अथवा देवकनिष्ठा (Totemism) कैसे उत्पन्न हुई और प्राकृतिक वस्तुओंका चुनाव प्राथमिक जमातें किस सिद्धान्तपर करती हैं, आदि बातोंकी चर्चा मानव-जाति शास्त्रज्ञोंने विस्तारके साथ की है। इस

चर्चासे प्राथमिक संस्कृतिसम्बन्धी सामाजिक मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान (Social Psychology) निकला। प्रसिद्ध मानस-शास्त्रज्ञ फ्राईडने भी ' टोटम और टाबू ' (Totem and Taboo) नामका ग्रन्थ इसी विषय-पर लिखा है।

समुदाय-श्रद्धावाद समाज-देवता-वाद अथवा सामाजिक भावना-वाद

इस उपासनाके अध्ययनसे धर्म-संस्थाकी एक नई उपपत्ति अथवा तत्व-ज्ञान कुछ पाश्चात्य विद्वानोंने निर्माण किया है। सर राबर्टसन स्मिथ, प्रो० डुरखिम और डॉ० जेवंसके मतसे धर्म (Religion) सामाजिक धारणाकी संस्था है। फ्रेंच पंडित डुरखिमने अपने धार्मिक जीवनके प्राथमिक स्वरूप (Elementory forms of religious life) नामक ग्रन्थमें इसका विवेचन किया है। वह कहता है कि प्रत्यक्ष कुल, गण, जमात अथवा समाज ही देव हैं और कोई नहीं। कुलप्रतीकोपासनाके सारे विधि-विधानोंमें यही तत्त्व मालूम होता है। सामुदायिक अस्तित्वकी उत्कट समवेदना (Sublime Social Conscious) ही पवित्र ईश्वरीय धार्मिक भावना है। ' धार्मिक ' और ' सामाजिक ' इन दो कल्पनाओंका वास्तवमें एक ही अर्थ है। मनुष्यके भवितव्यका निर्माण करने-वाली सर्व-समर्थ शक्ति ही ईश्वर है। यह शक्ति वास्तवमें समाजमें ही रहती है। वह समाजकी आत्मा है। भक्त अपने देवमें जिन गुणोंका आरोपण करता है, वे गुण यदि हैं तो समाजमें ही हैं। मनुष्यके चारों ओर समाजके सिवाय कौन सी वस्तु है कि जिसकी आज्ञा न माननेसे दण्ड भोगना पड़ता है? यह सारी श्रेष्ठ शक्ति सामाजिक आत्मा है। ऐसा मालूम होता है कि न्याय करनेवाला ईश्वर है, परन्तु न्याय क्या है यह निर्णय करनेकी शक्ति समाजमें ही रहती है और उसका निर्णय भी सामाजिक संस्था ही करती है। अमरत्वकी आकांक्षा होती है और वह विशिष्ट आचरणसे प्राप्त होता है, ऐसी श्रद्धा होती है। परन्तु, अमरत्व व्यक्तिको कभी प्राप्त नहीं हो सकता। सातत्य, अविच्छेद ये धर्म समाजको मिलते हैं। अमरत्व सापेक्षतासे समाजका ही रहता है। विधि-निषेधात्मक धर्म-शास्त्र ईश्वर-प्रणात

होते हैं, इस कल्पनाका गूढ़ अर्थ क्या है ? यही न कि वे समाज-प्रणीत होते ? नहीं तो दूसरा अर्थ क्या होगा ? धार्मिक विधियोंमें सामाजिक भावनाओंका ही आविष्कार होता है। उन भावनाओंके आविष्कारके लिए ही सामाजिक संकेतसे निर्माण किये हुए साधन धार्मिक कर्म-कांड हैं।

यद्यपि डुरखीम आदि विचारकोंकी इस विचार-पद्धतिके पोषक विचार महाभारत और स्मृतियोंमें मिलते हैं, परन्तु व्यवस्थित पृथक्करण और समन्वय करके सारे धर्म-शास्त्रोंको इस दृष्टिसे उपस्थित करनेका यह प्रयत्न बिलकुल नया है।

सारी ही धर्मसंस्थाओंमें इस विचार-सरणिका पोषक बहुत बड़ा आधार मिलता है। यात्रा, तीर्थस्थान, त्यौहार, संस्कार, यज्ञ, मन्दिर, भोज, उत्सव, भजन, दान, देवता, गुरु, साधु-सन्त, प्रमाण-ग्रन्थ, नीति-तत्त्व आदि धार्मिक पदार्थ सामाजिक ही हैं। व्यक्ति संघ-विशेषका घटक होनेसे वह विशिष्ट धार्मिक आचरण करता है। व्यक्तिकी कोई भी मानसिक अथवा शारीरिक धार्मिक क्रिया व्यक्ति-भरकी नहीं होती। उसका देव, मन्त्र, तन्त्र और गुरु समुदाय-विशेषका होता है। उसमें विशिष्ट परम्परा रहती है। इस परसे उक्त पंडितोंने यह निष्कर्ष निकाला है कि धर्मका रहस्य सामाजिक जीवन और समाज-धारणा है।

इस विचार-सरणिमें अनेक दोष हैं—(१) यह नहीं माना जा सकता कि उपासना और पूजाका विषय समाज, सामाजिक संस्था, सामाजिक तत्त्व अथवा समाजात्मा (Social Soul) रहता है। उपासककी कल्पनाके अर्थकी जाँच करके इसे सुलझाना चाहिए। उपासक क्या समझता है, क्या मानता है, किसका ध्यान करता है, किसकी भक्ति करता है, इसकी जाँच होनी चाहिए। उसका ईश्वर समाजसे अलग होता है। व्यक्ति अथवा समुदाय जिसकी उपासना करता है वह स्वयं उससे बिलकुल निराला, विलक्षण गुण-धर्मोंका, विस्मयजनक और चमत्कारपूर्ण शक्तियोंवाला है, ऐसा ही वह व्यक्ति और समुदाय मानता है। भौतिक सृष्टि और समाजसे परेके, उनका नियंत्रण करने-वाले देव और अद्भुत शक्ति यही धार्मिक उपासनाके विषय हैं। धार्मिक भावनाका विषय अलौकिक शक्ति ही है, चाहे वह शक्ति कल्पित और भ्रान्तिमय

ही क्यों न हो । देवता शास्त्र (Theology) ही इसका मुख्य प्रमाण है । देवता-शास्त्रमेंसे सामाजिक अर्थ निकालनेके लिए बहुत ही खींच-तान करनी पड़ेगी । (२) दूसरा दोष—जिनमें धार्मिकता नहीं है, ऐसी अनेक सामाजिक भावनाएँ बतलाई जा सकती हैं । वाद-विवादकी सभा, शिकार, सामुदायिक-खेल, होड़ आदिमें सामुदायिक भावना तो होती है, परन्तु वह धार्मिक नहीं होती । (३) तीसरा दोष—एकान्तकी प्रार्थना और उपासनामें सामाजिक भावनाकी गन्ध भी नहीं रहती । (४) चौथा दोष—सामाजिक आत्मा (Social Soul) जिसे डुरखीम और जेवंस समाज-शास्त्रमें लाये हैं, समझमें नहीं आता कि क्या चीज है । समाज-शास्त्र एक प्रयोगसिद्ध विज्ञान (Imperical Science) है । उसमें गूढ़-तत्त्वको स्थान न मिलना चाहिए ।

एण्ड्र्यू लंगका प्राकृत एकेश्वर-वाद

धर्मके उद्गमके सम्बन्धमें मूर्त्त-जीव-वाद (Animism), अलौकिक-शक्ति-वाद (Supernatualism) और सामाजिक-भावना-वाद (Collectivism) ये तीन उपपत्तियाँ बतलाई गईं । इनके अतिरिक्त चौथी उपपत्ति एण्ड्र्यू लंग (Andrew-Lang) ने बतलाई है । वे कहते हैं कि पहले एकेश्वरोपासना (Monotheism) उत्पन्न हुई । हिन्दुस्तान, आस्ट्रेलिया, आफ्रिका और अमेरिकाकी अनेक प्राथमिक स्थितिकी जमातें एक ही देवकी उपासना करती हैं । यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने पड़ोसके सुधरे हुए समाजसे एकेश्वरोपासना ले ली होगी, परन्तु जिनका सुधरे हुए समाजोंसे कोई सम्पर्क ही नहीं रहा उनमें भी एक देवकी उपासना हम देखते हैं । अढ़ाई हजार वर्ष पहलेके सेमाइट ((Semite) लोगोंकी प्रत्येक जातिका एक ही देव था । हिब्रू लोगोंका पहला गण-देव (Tribal God) ' यह्वा ' आगे चलकर उनके धर्मका मुख्य देव बन गया और फिर वही जगदीश्वर (Universal God) हो गया । पहले इस एकेश्वरका स्वरूप बहुत ही स्थूल होता है । यह ठीक है कि कुछ जंगली जमातों और सुधरे हुए समाजोंमें बहुदेव-पूजा दिखलाई देती है, परन्तु अनेक जमातोंका संकर (मिश्रण) होनेके बाद देवोंका भी संकर होकर बहु-देवता-पूजा (Polytheism) उनमें रूढ़ हो गई ।

जमातका और परम्परागत संस्कृतिका पहला प्रवर्त्तक और उत्पादक कौन ? इस तरहकी बाल-सुलभ जिज्ञासा मनुष्यमें स्वाभविक रीतिसे ही उत्पन्न होती है। प्राथमिक लोग कल्पना करते हैं कि पहला प्रवर्त्तक और जनकया पिता कोई न कोई होना चाहिए। फिर उसके विषयमें यह भावना होती है कि वह हमारी अपेक्षा बलवान्, पराक्रमी और सत्ताधीश ही होना चाहिए और ऐसा लगने लगता है कि उसकी शासक-शक्तिके कारण ही हम परम्पराका उल्लंघन नहीं करते हैं। उससे डर लगता है और उसकी भक्ति करनेकी प्रवृत्ति होती है। वह कल्पित देव ही जमातका, जीवनका, भवितव्यका और देशका स्वामी होता है। उसके पितृत्वके कारण जमातमें भ्रातृ-भावना पैदा होती है, उसके शापसे जमातपर संकट आते हैं और कृपासे कल्याणकी वर्षा होती है। सारे सामाजिक सम्बन्धोंका वही प्रणेता होता है।

एण्ड्र्यू लंगके इस मतको बहुतसे पंडित ठीक नहीं मानते। यह कहना ठीक नहीं कि अनेक देवोंकी उपासना अनेक जमातोंके आपसके संकरसे अस्तित्वमें आती है। हम यह भी नहीं कह सकते कि अनेक अलौकिक शक्तियों और व्यक्तियोंकी उपासना करनेकी प्रवृत्ति मनुष्यके स्वभावसे मेल नहीं खाती।

स्पेन्सरका पितृ-पूजावाद

सर हर्बर्ट स्पेंसरने धर्मोत्पत्तिकी निराली ही उपपत्ति बतलाई है। उनके मतानुसार प्राथमिक धर्म पितृ-पूजा (Ancestor-cult) है। समाजमें पहले मातृ-प्रधान अथवा पितृ-प्रधान कुटुम्ब-संस्था रहती है। पूर्वजोंकी उनके जीते जी कुटुम्बके सारे व्यक्तियोंपर सत्ता रहती है, इस लिए पूर्वजोंके विषयमें आदर और भयकी भावना छुटपनसे ही जम जाती है। मनुष्य उन्हें सन्तुष्ट करनेका प्रयत्न सदा ही करता है। प्राथमिक समाजोंमें जमातके और उपजमातके नायक रहते हैं। उनके विषयमें भी पिता जैसी भावना रहती है। जमातके नायकका, राजा, पति, मा-बाप, कुटुम्ब अथवा कुलके बड़े बूढ़े आदमियोंका, शूर स्त्री-पुरुषोंका भय उनके मरनेपर भी बना रहता है। वे कुछ बुरा न कर दें, इस लिए उन्हें सन्तुष्ट करनेके लिए उनकी पूजा शुरू हो जाती है। सारे सुधरे हुए विद्यमान धर्म पितृ-पूजासे ही निर्माण हुए हैं। सर्वशक्तिमान् एकेश्वरकी पूजा भी पितृ-पूजासे

ही उत्पन्न हुई । ईसाई धर्ममें देवको पिता कहते हैं, हिन्दू-धर्ममें मृत प्राचीन राजा और वीर परमेश्वर मानकर पूजे जाते हैं । जैसे राम और कृष्ण । मुसलमान ईश्वरमें सार्व भौम राजाके गुणोंका आरोप करते हैं ।

यह उपपत्ति अव्याप्ति दोपसे दूषित है । क्योंकि वैदिक कालमें निसर्ग-शक्तियोंकी अलौकिक दिव्य-शक्ति समझकर उपासना की जाती थी । सूर्य, वरुण, उषस्, अग्नि, मरुत् आदि वैदिक देवताओंके उदाहरण देखिए ।

ऐतिहासिक वस्तु-विपर्यासवाद

मार्क्सवादियोंकी धर्मोद्भव-संबंधी उपपत्ति बतलाकर अब धर्म-लक्षणकी विचारणा करना है । मार्क्सवादी उपपत्तिको समझनेमें ऊपर बतलाई हुई सारी उपपत्तियोंका अच्छा उपयोग होगा, इसलिए उन्हें पहले ही लिख देना उचित मालूम हुआ । ऊपर लिखी हुई उपपत्तियोंके सिवाय और भी बहुत सी उपपत्तियाँ पाश्चात्य विद्वानोंने बतलाई हैं, परन्तु उनमें ऐतिहासिक-पद्धति स्वीकार नहीं की गई और वे ऐसी हैं कि जगतके सुधरे हुए धर्मोपर ही लागू होती हैं । आगे हिन्दूधर्मका प्रत्यक्ष विवरण करते समय उनका संक्षेपमें उल्लेख किया जायगा ।

मार्क्सवादियोंकी धर्मविषयक उपपत्ति ऐतिहासिक भौतिक वादका ही एक भाग है । निसर्ग और समाज-संबंधी सारा तत्त्वज्ञान इस ऐतिहासिक भौतिकवादकी कल्पनाने व्यक्त किया है । मार्क्सने समाजकी रचनाके दो भाग बतलाये हैं । एक भौतिक अधिष्ठान और दूसरा उस अधिष्ठानपर खड़ा हुआ अध्यात्म-संस्कृतिका महल । इस दूसरे भागमें धर्मका अन्तर्भाव होता है ।

मार्क्सवादियोंकी धर्म विषयक उपपत्ति यह है : आज यदि हम धर्मका स्वरूप देखते हैं तो उसका समाजके भौतिक जीवनसे कुछ सम्बन्ध होगा, ऐसी शंका तक नहीं होती । वह भौतिक जीवनसे अत्यन्त दूर है । इतना ही नहीं बल्कि अत्यन्त विरुद्ध है । ऊपर ऊपर देखनेसे तो ऐसा ही मालूम होता है, परन्तु हिन्दुस्तान और यूरोपके प्राचीन धर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे सिद्ध होता है कि धर्म भौतिक जीवनमें ही पैदा हुआ है ।

धर्म क्या है ? निसर्ग-शक्ति (Natural forces) और सामाजिक-शक्ति (Social forces) का मानवी अन्तःकरणपर उभरा हुआ विपर्यस्त भ्रान्तिमय प्रतिबिम्ब* । मनुष्यके जीवनको बनानेवाली ये दो शक्तियाँ हैं, और यही जीवनकी अधिष्ठान हैं । मनुष्यके सारे जीवनपर इन दो शक्तियोंकी सत्ता चलती है । उनके अन्तःकरणपर निरन्तर आघात-प्रत्याघात होते रहते हैं । अन्तःकरणके विकार, विचार, आकांक्षाएँ और भावनाएँ इन आघात-प्रत्याघातोंसे ही उत्पन्न होती हैं । जब तक इन शक्तियोंका नियंत्रण मानव-जीवनपर रहता है, उनपर मानवकी सत्ता नहीं चलती और उनके स्वरूप, कार्य कारण-भाव और व्यापारका ठीक ठीक खुलासा नहीं होता तब तक उन शक्तियोंके विषयमें विपरीत भ्रान्तिमय कल्पनाएँ तैयार होती रहती है । पहले नैसर्गिक शक्तिके विषयमें विपर्यस्त कल्पनाएँ तैयार होती हैं । अनियंत्रित नैसर्गिकशक्तिसम्बन्धी विपर्याससे अलौकिक-शक्ति (Supernatural forces) विश्वमें भरी हुई है, ऐसा भास उत्पन्न होता है । अलौकिक शक्ति अर्थात् भ्रान्ति-ग्रस्त मनके द्वारा नैसर्गिक-शक्तिके किये गये विपर्यस्त रूपान्तर । दैवी, आसुरी अथवा इतर प्रकारकी अलौकिक शक्ति यही है ।

निसर्गशक्तिविषयक विपर्यास पहले प्राथमिक स्थितिमें होता है । सामाजिक शक्ति-संबंधी विपर्यास धर्मोंमें देरीसे, कुछ अंशोंमें विकास होनेके बाद, प्रवेश करता है । इतिहासके प्रारंभमें, समाजकी प्राथमिक अवस्थामें, शरीर-धारणके लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओंके प्रयत्नकी सबसे अधिक प्रधानता रहती है । इसलिए नैसर्गिक शक्तियोंकी ओर ही अन्तःकरण अधिक खिंचता है और शरीरधारणके लिए उन्हींकी अज्ञानजन्य उपासना पहले चालू होती है । भौतिक शक्तियोंके पराक्रमसे विस्मित हुआ जंगली मन उन शक्तियोंमें अज्ञानवश दिव्यत्वका आरोप करता है । अत्यन्त स्थूल पदार्थ भी उसे गूढ़ और चमत्कारपूर्ण मालूम होते हैं । इससे वृक्ष, वनस्पति, पशु, पक्षी, सरीसृप, पाषाण, भूमि, नदी, वर्षा, मेघ, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, वायु, आँधी, आकाश आदि निसर्ग पदार्थोंकी साधना और आराधना प्राथमिक

---

* Anti-Dhuring pp. 353-55. Ludwig Feuerbach pp. 65-69.

धर्मोंमें शुरू होती है। यातु-क्रिया (Magic), कुल-चिह्न-पूजा (Totemism) और निसर्ग-पूजा (Nature-worship) इसी समय शुरू होती है।

इन अलैकिक शक्तियोंका सामाजिक परिस्थितिपर असर पड़ता ही है। समाजकी बहुत-सी घटनाएँ पिछड़े हुए मनको अगम्य मालूम होती हैं। उनका नियंत्रण करना कठिन होता है। इससे अन्तःकरण सामाजिक शक्तियोंमें अलौकिकताका आरोप किये बिना नहीं रहता। निसंग-शक्तियाँ धीरे धीरे सामाजिक रूप धारण करने लगती हैं। समाजकी घटनाओंका कर्तृत्व उनपर लादा जाता है। ऐसा लगने लगता है कि युद्धकी हार-जीत उनकी ही इच्छापर अवलम्बित है। चूँकि जमातका नायक एक रहता है, इसलिए देव भी जमातका नायक हो जाता है। मातृ-प्रधान कुटुम्ब पद्धतिमें देव माता या देवी बन जाता है और पितृ-प्रधान पद्धतिमें पिता अथवा स्वामी। अप्रगल्भ मनकी निसर्ग-शक्तियोंमें व्यक्तित्वका आरोप करनेकी प्रवृत्ति रहती है। तदनुसार असंस्कृत बाल मनको ऐसा मालूम होता है कि नदी, वर्षा, मेघ आदि भी अपने ही सरीखे अहंभाव-युक्त व्यक्ति हैं। जिस जमातकी जो परिस्थिति होती है उसकी धार्मिक कल्पना उसी परिस्थितिके अनुसार गढ़ी जाती है। हमेशा युद्ध करनेवाली जमातका देव सेनापति होता है। पशुपालनकी अवस्थामें शांतता-प्रधान जीवन व्यतीत करनेवाले प्राचीन आभीरों (अहीरों) का देव मुरली धारण करनेवाला ग्वाल-बाल था। सामाजिक परिस्थितियोंके अगणित स्वरूप हैं, इसलिए उन परिस्थितियोंके अनुरूप धार्मिक कल्पनाएँ भी अगणित प्रकारकी हैं।

मानवकी थोड़ी सी श्रेष्ठता ध्यानमें आनेके बाद और सामाजिक संस्थाओंको अधिक महत्त्व मिलनेके बाद दैवी शक्तियोंमें मानव गुणोंका अतिशयोक्तिपूर्ण आरोप होने लगता है। स्थावर-जंगम सृष्टिके रूप-गुणोंका और मानव-गुणोंका एक दूसरेमें मिश्रण होकर देवता तैयार होते हैं।

देवता भी अपने ही जसे होते हैं, इस कल्पनातक पहुँचनेमें भी समाजको संस्कृतिकी बड़ी लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। क्षुद्र संस्कृतिके लोग देवतामें पशु, पक्षी, जलचर, स्थावर अथवा जड़ वस्तुओंके ही गुण-धर्मोंका आरोप करते हैं अथवा उन्हें ही देवता समझते हैं। हिन्दुस्तानके सुधरे हुए समाजोंमें भी इस तरहके कुछ देवता बने हुए हैं। जब मनकी प्रगति मानवी गुणोंकी श्रेष्ठतापर विश्वास करने योग्य

नहीं होती है, मन और बुद्धि बहुत ही क्षुद्र और अवनत रहते हैं, तब ही स्थावर और जंगम देवता बनते हैं। ग्रीक दार्शनिक झेनोफनेस (Xenophanes) ने देवतामें मानवके गुण-धर्मोंका आरोप करनेवाले धर्मोंका मजाक उड़ाया है। वह कहता है,— " मर्त्य मानव देवताका जन्मोत्सव करते हैं, देवताके अपने ही जैसे नाक, आँख, हाथ-पाँव हैं और देव भी हमारे ही जैसे कपड़े लत्ते पहनते और बोलते चालते हैं; ऐसा समझते हैं। सचमुच ही यदि घोड़ों, सिंहों, बैलों अथवा हाथियोंको चित्र-खींचना आता तो उन्होंने भी देवताका चित्र घोड़ा, सिंह, बैल, हाथी जैसा ही खींचा होता। " झेनोफनेसको शायद पुराने ग्रीक-धर्मोंके पशु-देवताओंका परिचय नहीं था, इसीलिए उसने यह मजाक किया है। संसारके अन्य बड़े बड़े धर्मोंमें इस समय भी पशु-पूजा बाकी है, यह यदि उसे मालूम होता तो इस प्रकारकी हँसी न करता। देवताको आत्मवत् मानने जितनी प्रगति करनेमें भी मनुष्यको बहुत समय लगा है।

जब मनुष्यमें यह समझनेकी पात्रता आ गई कि सृष्टिके व्यापार एक दूसरेसे गुँथे हुए और परस्परावलम्बी हैं और सारे जगत्में एक ही व्यवस्था है, तब उसने अगणित देवताओंमेंसे एक सर्वगुण-सम्पन्न और सर्व-शक्तिमान् देव निर्माण किया। बाकीके सब देव उस देवमें लुप्त हो जाते हैं, समाविष्ट हो जाते हैं, उसके अंश बन जाते हैं, अथवा उस देवकी अपेक्षा छोटे ठहराये जाकर उसके पार्श्व-गण बन जाते हैं। एकेश्वरवादी विचार-सरणि उत्पन्न होनेके लिए विशिष्ट समाज-परिस्थिति अनुकूल होनी चाहिए। भिन्न भिन्न समाज अथवा राष्ट्र जब एक दूसरेकी संस्कृतिका और भौतिक साधनोंका देन-लेन करने लगे, अथवा एक दूसरेके संसर्गमें आने लगे और उनके व्यवहार एक दूसरेसे गुँथने लगे तब एक देवता जन्म लेता है। सामाजिक परिस्थिति यदि दुर्बल हुई तो इतर देवता टिके रहते हैं अन्यथा उनका लोप हो जाता है।

अनियंत्रित भौतिक और सामाजिक शक्तियोंके मनुष्यके अन्तःकरणपर जो विपर्यस्त प्रतिबिम्ब पड़ते हैं अथवा विकृत भ्रान्ति-रूप परिणाम होते हैं, उन्हींमेंसे जगत्के विद्यमान् बड़े बड़े धर्म उत्पन्न हुए हैं। उदाहरणके लिए हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मके कर्म-विपाक सिद्धान्तको देखिए। उसके अनुसार व्यक्तिकी, समाजकी और विश्वकी जो परिस्थिति होती है उसमें व्यक्तियोंके पूर्व-जन्म-

सम्बन्धी कर्म कारण होते हैं। वर्तमान्‌के सारे उलट-फेर, सुख-दुःख, प्रारब्ध कर्मोंके फल हैं। कर्म तीन तरहके हैं—संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध। कर्म-विपाकका यह गूढ़ सिद्धान्त हिन्दू-धर्म-शास्त्रने समाजकी परिस्थितियोंपर पूरी तरह लागू किया है। चातुर्वर्ण्य और जाति-भेदकी संस्था कर्म-विपाकपर ही खड़ी की गई है। धर्म-शास्त्र कहते हैं कि शूद्र और दलित जातियोंको अपनी दासतामें ही सन्तोष करना चाहिए। क्यों कि वह प्रारब्ध कर्मोंका फल है। उच्च जातियों और वर्णोंको अपना श्रेष्ठत्व और स्वामित्व जताना ही चाहिए। कारण वह उन्हें पूर्व-पुन्याईसे प्राप्त हुआ है। इस समय समाजके सुख-दुःख और व्यक्तिके ऊँच-नीच होनेका कारण वर्तमान् समाज-शास्त्र अच्छी तरहसे बतलाता है। अब तो कर्म-विपाकका सिद्धान्त शुद्ध पागलपन समझा जाता है, क्यों कि सामाजिक शक्तियोंकी गूढ़ता सामाजिक विज्ञानने ही नष्ट कर दी है।

क्रिश्चियन, मुसलमान, पारसी और यहूदियोंके धर्म एकेश्वरवादी हैं। एकेश्वरवाद, जैसा कि ऊपर कहा गया है, विपर्यास-ग्रस्त मनोभूमिकामें ही निर्माण हुआ है। ईश्वरके संकेतसे हमें वर्तमान् स्थिति मिली है। इस जन्ममें अच्छा वर्ताव करेंगे तो ईश्वर अन्तमें न्यायके दिन योग्य निर्णय देगा, यह भावना इन धर्मोंके मूलमें है। अपने भवितव्यका नियंत्रण करनेवाली शक्तियोंका अगम्यत्व और गूढ़त्व ही ईश्वरीय संकेतकी नींव है।

जब तक समाजमें वर्ग-विग्रह और अन्तः-कलह रहेगा, तब तक धर्म अवश्य रहेगा। समाजमें जबसे व्यक्तिगत संपत्तिकी संस्थाने जन्म लिया तबसे धर्म-संस्थाके सूत्र सत्ताधारी वर्गके हाथमें चले गये और सत्ताधारी वर्गने ही धर्म-संस्थाको संगठित रूप दिया। समाजके परस्पर-विरोधी हित-सम्बन्धोंकी रक्षा करनेका काम धर्म-संस्थाने किया और समाजमें जिनके हाथमें सम्पत्तिके साधन रहते हैं उनके हाथ मजबूत करनेका काम धर्मने किया। सम्पत्ति और अधिकारकी विषमताके कारण उत्पन्न होनेवाले अन्तःकलहको धर्मने समय समयपर दबा दिया। विषमतामूलक समाज-रचना और कानूनको पवित्रता और स्थायी मूल्य धर्मने ही दिया। आर्योंने अनार्यों अथवा शूद्रोंको, हिन्दुओंने अन्त्यजोंको, ग्रीक-रोमन आदि पाश्चात्योंने जित लोगोंको धर्म और ईश्वरीय संकेतके आधारपर दासता और हीन-स्थितिमें रखनेका प्रयत्न किया।

जब तक समाजमें मनुष्योंको अपना भवितव्य निश्चित करनेका सुभीता न होगा और ऐसी समाज-सत्ताकी व्यवस्था (Plan) नहीं हो जायगी, जिससे समाजके आर्थिक साधन ठीक तरहसे सारे समाजके ऐहिक कल्याणके लिए उपयोगमें आने लगें, तब तक धार्मिक मनःस्थिति रहेगी ही। धार्मिक परिस्थिति मनुष्यके भवितव्यको बनानेवाली परन्तु मानव-बुद्धि और कृतिकी पहुँचके बाहरकी परिस्थितिका विपाक है। इस समयकी पूँजीवादी समाज-रचनामें भी निम्न और उच्च-वर्गके व्यक्तियोंके भवितव्यपर अकल्पित और अनिश्चित रीतिसे आक्रमण करनेवाले दुर्दैवकी तलवार लटकती रहती है। आर्थिक मन्दी, दिवाला, घाटा, कर्ज़, बेकारी और दूसरे आर्थिक संकटोंका आतंक सभीपर हमेशाके लिए स्थायी रूपसे जमा रहता है और फिर विश्व-व्यापी महायुद्धका भय तो है ही। समाजकी समाज-वादी पद्धतिसे फिरसे रचना किये बिना अर्थात् क्रान्तिके बिना सामाजिक अराजकता और दुरवस्था हमेशाके लिए नहीं मिट सकती। एक दफा क्रान्ति हुई कि फिर धार्मिक मनःस्थिति बाकी नहीं रहेगी। क्यों कि धार्मिक मनःस्थिति व्यक्तिके जीवनपर गूढ़ रीतिसे सत्ता चलानेवाली सामाजिक शक्तिका विकृत प्रतिबिम्ब है। समाजवादी क्रान्तिके बादकी स्थितिमें जब बिम्ब ही नहीं, तो फिर प्रतिबिम्ब कहाँसे रहेगा?

इसपर यह आक्षेप किया जा सकता है कि ऐसी शक्ति थोड़ी बहुत सदा ही रहेगी जिसपर मनुष्यका बस नहीं चलता। क्यों कि मनुष्यको विश्वका सम्पूर्ण ज्ञान हो नहीं सकता और विश्व अनन्त है। उत्तर यह है कि विज्ञानके योगसे निसर्ग और समाजकी बहुत-सी शक्तियोंका वास्तविक अर्थ ज्ञात हो गया है। उसमें अपूर्णता है, परन्तु धर्म जिस तरहकी विकृत और विपर्यस्त कल्पनाओंसे उत्पन्न होता है उस तरहकी कल्पना करनेके लिए अब गुंजाइश नहीं रही है। जीवनपर नियंत्रण करनेवाली सामाजिक शक्तिका रहस्य तो पूरी तरह खुल गया है। उसके अनुसार अमल करनेसे धार्मिक मनोभावना ही उत्पन्न न होगी और धर्मसे भी श्रेष्ठ भावना और धर्मसे भी ऊँचे दर्जेकी मानसिक संस्कृतिका समाजमें अवतार होगा।

दूसरा व्याख्यान

धर्म-लक्षण और धर्म-प्रमाण

१ धर्मलक्षण

अभी तक ऐतिहासिक धर्म-समीक्षाके सामान्य तत्वों और धर्मोत्पत्ति-विषयक अनेक मतोंका ऊहापोह किया गया। ऊपर सिर्फ ऐतिहासिक पद्धतिसे मेल खानेवाले मतोंकी ही चर्चा की गई है। भाववादी अध्यात्मवादी (Idealistic) उपपत्तिका विचार धर्म-प्रमाण-परीक्षामें किया जायगा। धर्मकी व्याख्या निश्चित करनेके लिए उपर्युक्त उपपत्ति बहुत उपयोगी है, इसलिए उसे पहले बतलाया गया। भारतीय आचार्योंने धर्मकी जो व्याख्याएँ की हैं उनका ऊहापोह अब किया जाता है।

धर्मकी व्याख्या और धर्मकी मूलभूत कल्पनाकी समीक्षा करनेकी भारतीय प्रथा बहुत पुरानी है। अन्य संस्कृतियोंमें धर्म-समीक्षाका उदय भारतकी अपेक्षा देरसे हुआ। इसका कारण यह है कि भारतमें धर्मका विकास संसारकी सभी संस्कृतियोंसे पहले हुआ। पहला विश्व-धर्म (Universal religion) बौद्ध-धर्मके रूपमें सबसे पहले यहीं उदित हुआ। विश्व धर्म धर्म-संस्थाकी आत्यन्तिक परिणति है। यद्यपि इस परिणतिके बाद भी धर्ममें अनेक सुधार होते हैं, परन्तु उसका मौलिक स्वरूप बना रहता है। विश्व-धर्मोत्पत्तिके अनन्तर धर्मका मौलिक परिवर्तन संभव नहीं। यदि उसके बाद धर्ममें मौलिक परिवर्तन हुआ, तो धर्मका धर्मत्व ही नष्ट हो जाता है। विश्व और जीवनकी ओर देखनेका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही विश्व-धर्मकी अगली प्रगतिकी सीढ़ी है। इस सीढ़ीपर पहुँच जानेपर धर्म-संस्थाका मूल ही नष्ट हो जाता है। क्यों कि धर्म-संस्थाका मूल दिव्य-दृष्टि (Supernatural form of thought) है और उसका विज्ञानसे विरोध है।

भारतवर्षमें बौद्ध-धर्मके उदयके बाद जिस धर्म-समीक्षा (Criticism of Religion) का उदय हुआ उसका हेतु धर्मके मूल-भूत तत्त्वोंकी छान-बीन करना था। दर्शन-शास्त्र धार्मिक गूढ़ तत्त्वोंकी छान-बीन करते हैं। छान-बीन

शुरू हुई कि वे तत्त्व डगमगाने लगते हैं। इन्द्र-धनुष्य हाथ नहीं आता और उसके निकट जानेका प्रयत्न करो तो वह दूर चला जाता है अथवा लुप्त हो जाता है। यही हाल गूढ़ तत्त्वोंका है। यह छान-बीन भारतवासियोंने सबसे पहले शुरू की।

धर्मका लक्षण अर्थात् धर्मकी व्याख्या। धर्म-लक्षणकी चर्चा धर्म-सूत्रों और महाभारतमें की गई है। धर्म-सूत्रोंका बुद्ध-पूर्व-कालीन होना संभव है। वैशेषिक दर्शनको छोड़कर अन्य दार्शनिक सूत्र, मन्वादि स्मृतियाँ और महाभारतका अधिकांश भाग बुद्धोत्तरकालीन है। हमें इस साहित्यकी धर्म-चर्चा जाँचनी है। पहले धर्मके सामान्य और विशेष लक्षण बतलाकर फिर उपर्युक्त ग्रन्थोंके धर्म-लक्षण जाँचने होंगे।

धर्मका सामान्य-लक्षण

अलौकिक शक्तिकी कल्पनापर आश्रित और श्रेयस्कर माने गये मानवीय-आचरणको धर्म कहते हैं। कुछ धर्म-संस्थाएँ एक ही अलौकिक शक्तिकी कल्पना करती हैं और कुछ अनेककी। धार्मिक आचरण वैयक्तिक और सामुदायिक दो तरहके होते हैं और इन आचरणोंमें शारीरिक और मानसिक, दोनों तरहकी क्रियाओंका समावेश होता है। श्रेयस्का अर्थ है व्यक्तिका, वर्गका अथवा समाजका हित। यह हित अलौकिक शक्तियोंकी सहायतासे प्राप्त होता है और यह कल्पना सारे धार्मिक आचरणोंकी जड़में रहती है।

विष्णुकी अथवा शिवकी कल्पना एक अलौकिक शक्तिकी कल्पना है शिव-विष्णु-विषयक प्रीति, भय, आनन्द, नम्रता, शरणागति, विरह वेदना, दर्शनकी अथवा कृपाकी उत्कण्ठा ये सब मानसिक क्रियाएँ हैं। मन्दिर बनवाना, स्तोत्र रचना, पूजन, यात्रा, भजन, वन्दन, नर्तन आदि शारीरिक क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओंसे जीवको श्रेयस् या सद्गति प्राप्त होती है, यह भावना इन क्रियाओंके कर्त्ताकी रहती है।

सत्य, परोपकार, अहिंसा आदि नैतिक आचरण सुधरे हुए धर्मोंकी दृष्टिसे धर्मका गाभा हैं, परन्तु उनमें भी नैतिक मूल्योंकी जड़में ईश्वरीय संकेत, आत्म-

प्रसाद अथवा अदृष्ट कर्म विषयक सिद्धान्त गृहीत रहता है। ईश्वर, आत्मा अथवा अदृष्ट ये अलौकिक शक्तियाँ हैं। सारी वर्तमान् धर्म-संस्थाएँ नीतिकी स्थापना अलौकिक शक्तियोंके आधारपर ही करती हैं और नीतिका सम्बन्ध पारलौकिक जीवनसे जोड़ती हैं। हिन्दू धर्ममें नीतिको चित्त-शुद्धिद्वारा मोक्षका कारण माना है।

वेदोंके यज्ञ-धर्मके मूलमें इन्द्र, वरुण, प्रजापति, पूषन, विष्णु इत्यादि दैवी शक्तियोंकी कल्पना है। स्मृतियोंके वर्णाश्रम-धर्मका समाज-धारणासे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। उनका एक भाग वैयक्तिक अथवा सामाजिक जीवनके कानून (Law) बतलाता है, परन्तु ये सारे स्मार्त धर्म पारलौकिक कल्पनाओंसे अवगुण्ठित हैं। स्मृतियाँ वर्णाश्रम धर्मका मरणोत्तर होनेवाला कर्म-विपाक बतलाती हैं। वहाँपर केवल लक्षणासे, आलंकारिक अर्थसे अथवा अर्थवाद-दृष्टिसे पारलौकिक कल्पनाओंका अधिष्ठान नहीं बतलाया है। वर्णाश्रमधर्मकी संस्कार-विधियाँ व्यावहारिक लौकिक क्रियाएँ नहीं हैं। देवता, मंत्र, होम, जप ये बातें संस्कारोंमें आवश्यक मानकर अंतर्भूत होती हैं। स्मृतियोंने धर्मका इहलोक और परलोक-सम्बन्ध स्पष्ट रीतिसे कहा है। स्मृतियोंके जन्म-सिद्ध चातुर्वर्णका समर्थन ईश्वर और कर्म-विपाक इन दो तत्त्वोंपर आधारित है। " उभौ लोकौ अभिजयति " (आपस्तम्ब धर्मसूत्र २—२९–१५) वर्णाश्रम धर्मसे दोनों लोक जीते जाते हैं। ऐसी धर्म-शास्त्रकी फलश्रुति है। हिन्दू, जैन और बौद्धोंके धर्म पुनर्जन्मका सिद्धान्त मानकर प्रवृत्त हुए हैं। यहूदी, क्रिश्चियन, पारसी और मुसलमानोंके धर्म, ईश्वर-कल्पनापर और स्वर्ग-नरकपर जोर देते हैं। श्रुति, स्मृति और पुराणोंका प्रत्येक धर्मानुशासन, शाश्वत आत्मा और अदृष्ट पाप-पुण्य इन दो अलौकिक तत्त्वोंको प्रधानता देता है।

उपर्युक्त धर्म-लक्षण सुधरी हुई और पिछड़ी हुई सारी सामाजिक स्थितियोंकी धर्म-संस्थाओंको व्याप्त करनेवाला है। प्राथमिक (Primitive) स्थितिके धर्म तकको यह लक्षण लागू होता है, इसलिए इसे सामान्य धर्म-लक्षण कहा है।

संक्षेपमें अलौकिकका खुलासा इस प्रकार है। लौकिक अर्थात् सर्व-साधारण प्रत्यक्ष और अनुमानसे सिद्ध होनेवाली वस्तु। अनुभव और प्रयोगके योगसे,

इन्द्रियोंकी सहायतासे जिनके गुण-धर्म अवगत और निश्चित किये जा सकते हैं वे वस्तुएँ लौकिक हैं। तर्कशास्त्रके नियमोंके आधारसे बुद्धि-द्वारा अथवा अनुभव और प्रयोगोंसे जिन वस्तुओंकी छान-बीन नहीं हो सकती, वे वस्तुएँ अलौकिक हैं। मृत्युके बाद भी रहनेवाला अमर आत्मा, देवता, जगत्-कारण ईश्वर, निर्गुण अथवा पूर्ण ब्रह्म, कर्मजन्य अपूर्व, मंत्रसामर्थ्य, स्वर्ग, नरक और मोक्ष ये धर्मशास्त्रोक्त वस्तुएँ बुद्धि-गम्य नहीं हैं, अर्थात् पदार्थ-विज्ञान, इन्द्रिय-विज्ञान, रसायन, ज्योतिष, गणित आदि विज्ञानकी वस्तुओंकी जानकारीके लिए जो बौद्धिक पद्धति काममें लाई जाती है उसका इन अलौकिक वस्तुओंकी जानकारीमें कोई उपयोग नहीं होता। शंकराचार्य और कुमारिल भट्टने अपने ग्रन्थोंमें इस मुद्देका बहुत अच्छा समर्थन किया है। समाज-शास्त्रमें जिस प्रकारकी बौद्धिक पद्धति स्वीकार की गई है उसका भी इस तत्त्वसे कोई संबंध नहीं है। इसी लिए इस वस्तुको अलौकिक कहा गया है। कुछ तत्त्व-वेत्ता उक्त वस्तुओंकी बौद्धिक सिद्धि करनेका प्रयत्न करते हैं परन्तु उनका वह घटाटोप व्यर्थ होता है। दिव्य-दृष्टिवाले ऋषि, त्रिकालज्ञ महात्मा, योगी, पैगम्बर, अवतार ही इन वस्तुओंके विषयमें प्रमाण हैं। इन वस्तुओंकी अचिन्त्यता, विलक्षणता और चमत्कृति-पूर्णताका सारे धर्म-ग्रन्थोंने वर्णन किया है। इस विषयकी सविस्तर चर्चा, 'धर्म-प्रमाण' के प्रसंगमें की जायगी।

उपर्युक्त सामान्य धर्म-लक्षणसे सुधरे हुए समाजके धर्मकी विशिष्टता अवगत नहीं की जा सकती। इसलिए सुधरे हुए धर्मोंके विशेष लक्षणकी खोज करनी चाहिए। उच्च धर्मके ऐतिहासिक कार्यका अर्थ समझनेके लिए यह सामान्य लक्षण अपूर्ण है।

धर्मका विशेष लक्षण

सारे विश्वकी प्रत्येक घटनाकी जड़में कोई न कोई अलौकिक शक्ति काम कर रही है, इस तरहकी कल्पना-पर जिसका आधार है और जो श्रेयस्कर समझा जाता है वह मानवीय आचरण ही धर्म है। यह सुधरे हुए धर्मकी व्याख्या है।

प्राथमिक समाजोंके (Primitive Societies) धर्ममें विश्व-व्यापक तत्वकी कल्पना नहीं रहती। प्राथमिक मन हररोजके जीवन-निर्वाहकी चिन्तामें ही डूबा रहता है। इसलिए वह विश्व-विचार करनेका अवसर नहीं पाता। इतनी उसकी योग्यता भी नहीं रहती। उस मनके द्वारा निर्मित हुआ धर्म उसकी व्यावहारिक आवश्यकताओंतक ही मर्यादित होता है। प्रगल्भ समाज-संस्थामें मन विश्वका और जीवनका विचार करना आरम्भ करता है। जीव और जगत्के सम्बन्धकी खोज करके उसपर आधारित धर्म सुधरे हुए समाजोंमें ही निर्माण होता है। भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेवाली जो वस्तुएँ हैं उनको उत्पन्न करनेकी जिम्मेवारी जिसपर नहीं रहती ऐसा वर्ग सुधरे हुए समाजोंमें उत्पन्न होता है और उसी वर्गमें व्यापक विचार करनेवाले मनका निर्माण होता है। क्योंकि उस समाजमें दास और दासों जैसा वर्ग ही भौतिक पदार्थोंके निर्माण करनेके काममें पिसता रहता है। सत्ताधारी वर्ग भौतिक उत्पादनकी कला उत्पन्न होनेपर ही निर्माण होता है। कारण, उस समय ही सारे समाज-घटकोंके शारीरिक श्रमकी गरज समाजके निर्वाहके लिए नहीं रहती है। योग-क्षेम चलानेमें जो शारीरिक श्रम करना पड़ता है उससे मुक्त रहनेवाला वर्ग उच्च धर्म-संस्था निर्माण करता है। उस धर्मके लिए उपयोगी विश्व-विषयक तत्व-ज्ञान निर्माण करनेकी फुर्सत उसे ही प्राप्त होती है। हिन्दू, बौद्ध, जैन, चीनी, पारसी, यहूदी, क्रिश्चियन, मुसलमान आदि सुधरे हुए समाजोंके धर्म विश्व-तत्वज्ञानपर आधारित हैं और उनकी रचना सत्ताधारी उच्च वर्गने ही की है।

ये सारे सुधरे हुए धर्म ऐसा मानते हैं कि विश्व एक नैतिक राज्य है और धर्म उस नैतिक राज्यका कानून है। बौद्ध और जैन यद्यपि ईश्वरको नहीं मानते, परन्तु सुकृत-दुष्कृतके अदृष्ट कानूनको जो विश्वके मूलमें हैं, हिन्दू धर्मके ही समान मानते हैं। कर्म-विपाक-वादका कर्म दृश्य मानवी आचरण नहीं, किन्तु मानवी आचरणका अदृष्ट परिणाम है। उसे ही पूर्व-मीमांसामें अपूर्व अथवा अदृष्ट कहा है। कर्म-विपाकका सिद्धान्त है कि संसारकी सारी घटनाएँ इस अदृष्ट कर्म-शक्तिका परिपाक हैं।

कर्मवाद कहता है कि इस जन्मके शरीर, बुद्धि, मन, कुल, धन, जाति आदि पूर्व जन्मके कर्मोंके फल हैं। इस सिद्धान्तका मूल वेदान्त और उपनिषदोंमें मिलता है। वेद कहता है कि वर्षा, शत्रु-नाश, रोग-निवारण, दीर्घायुष्य, मरणोत्तर देव-लोक अथवा पितृ-लोककी प्राप्ति, ये यज्ञके प्रयोजन हैं। यज्ञ-सामर्थ्य ही अदृष्ट, अपूर्व, सुकृत अथवा पुण्य है। यह यज्ञ व्यावहारिक क्रिया न होकर होम-हवनादिरूप धार्मिक क्रिया है। इसी वेदोक्त कर्म-वादका और अपूर्व-वादका प्रतिपादन पूर्व-मीमांसाने किया है। कर्म-वाद अथवा दैव-वाद पूर्व-मीमांसाने स्वयं अपनी कल्पनासे निराधार नहीं निकाला। वह वेदोंका ही वास्तविक निचोड़ है। कर्म-सिद्धान्त और तन्मूलक पुनर्जन्मवाद हिन्दू धर्मका आत्मा है। कर्म-विपाकका सिद्धान्त न माननेसे हिन्दू-धर्म शेष नहीं रहता। वेदोंके यज्ञ, स्मृतियोंका वर्णाश्रम-धर्म, खास करके संस्कार और प्रायश्चित्त, पुराणोंके व्रत और यात्राएँ, आगम-तंत्रोंकी उपासना, इन सबका अधिष्ठान अपूर्ववाद या कर्मवाद ही है। पूर्व-मीमांसाके बतलाये हुए अपूर्ववादके बिना उपर्युक्त धर्म-ग्रन्थोंके विधि-निषेध निरर्थक ठहरते हैं। मन्वादि स्मृतियाँ, महाभारत और भगवद्गीताका नीति-शास्त्र कर्मविपाक सिद्धान्तपर ही अवलम्बित है।

संसारकी अन्य सब धर्म-संस्थाएँ ईश्वरवादी हैं। वे मानती हैं कि ईश्वर-संकेतसे सारा विश्व और मानव-जीवन चल रहा है। क्रिश्चियन, पारसी, यहूदी और मुसलमान मानते हैं कि धर्म और अधर्म ईश्वर-संकेत हैं। ब्रह्म-सूत्रके * धार्मिक-विचार ईश्वर-संकेतको ही महत्त्व देते हैं।

जैमिनी, व्यास और कणादके धर्म-लक्षण अत्यन्त सुप्रसिद्ध हैं। आपस्तम्ब, वशिष्ठ, बोधायन आदि स्मृतिकारोंने भी धर्मके लक्षण दिये हैं परन्तु वे जैमिनी, व्यास और कणादके धर्म-लक्षणोंके पूरक हैं। जैमिनीने पूर्व-मीमांसामें, व्यासने महाभारतमें और कणादने वैशेषिक-दर्शनमें धर्म-व्याख्या दी है। आगे उसका क्रमशः विचार किया जाता है।

---

* फलमत उपपत्तेः। ब्रह्मसूत्र ३।२।३८

जैमिनीका धर्म-लक्षण

जैमिनीका लक्षण है —" चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः " अर्थात् " उपदेशसे, आज्ञासे अथवा विधिसे ज्ञात होनेवाली श्रेयस्कर क्रिया (अर्थ) ही धर्म है।" चोदना अर्थात् उपदेश, आज्ञा, विधि, प्रेरणा। चोदना शब्दका धात्वर्थ प्रेरणा है। यह प्रेरणा दो तरहकी होती है +, शाब्दी भावना और आर्थी भावना। कुमारिल भट्टने तंत्रवार्तिक (२।१।१) में इस प्रेरणाका व्यवस्थित विवेचन किया है। शाब्दी भावना अर्थात् शब्दके पीछे रहनेवाली आज्ञापक शक्ति। अमुक क्रिया तुम्हें करनी ही चाहिए अथवा तुम मत करो, इस तरह कोई एक लौकिक अथवा अलौकिक वाणी कहा करती है। वह वाणी अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ होती है और अनिष्ट-निवारण तथा श्रेयःप्राप्तिका आश्वासन देती है तथा आज्ञा भंग होनेपर दण्डका भय भी दिखलाती है। पूर्व-मीमांसाके मतसे धर्मकी आज्ञापक वाणी वेद हैं और वेद शाश्वत और अनादि हैं। वे किसीने बनाये नहीं। उनका कर्त्ता मनुष्य, देव आदि कोई नहीं है। वे स्वयंभू हैं। ईश्वरवादी तत्त्व-वेत्ता मानते हैं कि यह धर्मोपदेश करनेवाली वाणी ईश्वरकी है और ईश्वर ही वह आज्ञापक शक्ति है। कुछ धार्मिक संप्रदाय मानते हैं कि योग-सामर्थ्यसे संपन्न ऋषि मुनि ही धर्मोपदेशके मुख्य प्रणेता हैं। पूर्व-मीमांसाके मतसे वेदोंके शब्दोंमें ही यह आज्ञापक शक्ति अर्थात् शाब्दी भावना है।

आर्थी भावना अर्थात् मुझे अमुक क्रिया करनी ही चाहिए, कारण, उससे मेरा कल्याण होगा, ऐसी भावनासे उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्ति। कर्त्तव्योन्मुखता ही आर्थी भावना है। धार्मिक पुरुषोंमें जो भावना होती है उसे धर्म-विषयक आर्थी भावना कह सकते हैं।

जैमिनीकी धर्म-व्याख्या जगत्के सारे धर्मोंपर अच्छी तरह लागू होती है। ज़रतुष्ट्र, मोज़ेस (मूसा), कनफ्यूशस, ईसा, अथवा मुहम्मदको ईश्वर-संकेतका

\+ तेन भूतिषु कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः।
प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनां भावनाविदः ॥
अभिधा भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः ।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥—तंत्रवार्तिक २। १। १

साक्षात्कार (Revelation) हुआ और उसके अनुसार उन्होंने उपदेश दिया, ऐसा उक्त सभी धर्मवाले श्रद्धापूर्वक मानते हैं। यह दैवी उपदेश (Divine inspiration) ही 'चोदना' है।

सारे धर्म कहते हैं कि श्रेयस्कर आचरण कौन-सा है, यह निश्चय करनेका काम मानव बुद्धिका नहीं, केवल इस दिव्य अलौकिक शक्तिका ही है। जैमिनीके मतसे वेदोंमें ही श्रेयस्करता सिद्ध होती है। श्रेयस् अर्थात् इष्ट। इहलोक और परलोकमें इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टका परिहार ही श्रेयस् है। धार्मिक ग्रन्थ भरोसा देते हैं कि धर्मसे यदि इस जीवनमें इष्ट-सिद्धि नहीं हुई, तो परलोकमें तो निश्चयसे कल्याण होगा।

व्यासकी धर्म-मीमांसा और जैमिनीका धर्म-लक्षण

व्यासका धर्म-लक्षण जैमिनीके धर्म-लक्षणसे बिलकुल निराली भूमिकापरसे निर्माण हुआ दिखता है। जैमिनीके धर्म विचारमें शब्द-प्रामाण्य परमावधिको पहुँच गया है, परन्तु व्यासने कहीं कहीं शब्द-प्रामाण्यको महत्त्व ही नहीं दिया है।

" श्रुतिधर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जनाः।
न च तत्प्रत्यसूयामः नहि सर्वं विधीयते ॥ "

—महाभारत, शान्तिपर्व १०९।१३

" कोई कहते हैं, श्रुतिमें ही धर्म कहा है, कोई कहता है, नहीं। इस विषयमें हमें कोई पक्षाभिनिवेश नहीं है, क्योंकि श्रुतियोंमें सभी कुछ कह देना शक्य नहीं है।"

ऐसा मालूम होता है कि महाभारतके शान्ति-पर्वमें की हुई धर्म-मीमांसा बुद्धिवादी है।* श्रौत-स्मार्त-परम्परापर जब विश्वास कम हुआ और नये धर्म-विचार उदयमें आने लगे, उसी समय ये विचार प्रकट हुए होंगे। शान्ति-पर्वमें वैदिक पशु-यागका निन्द्यत्व, एकेश्वर भक्ति और वर्ण-व्यवस्थाकी

* महाभारत शान्तिपर्व अ० १४१–१४२–२४२

अस्थिरता प्रतिपादित है, राज्य-संस्था और वर्ण-व्यवस्थाकी बुद्धिवादी उपपत्ति बतलाई है। सामाजिक दुरवस्था और वर्ण-व्यवस्थाका सम्बन्ध राज्य-व्यवस्थासे जोड़ा है। श्रद्धामूलक धार्मिक आचारोंकी अपेक्षा नैतिक तत्त्वोंकी श्रेष्ठता बतलाई है और बारंबार यह उपदेश दिया है कि नैतिक तत्त्व ही सब धर्मोंके आधार हैं×। सब मनुष्योंको परमार्थ-साधनका समान अधिकार है और सर्व-भूत-हित + ही सब धर्मोंका सार है, ऐसा अनेक बार घोषित किया है। धर्म-निर्णयमें केवल वैदिक शब्द ही प्रमाण नहीं हैं बल्कि सबोंके हितोंका विचार करनेवाले साधुओंके विचार और मानव-बुद्धि प्रमाण है, ऐसे उदार विचार शान्ति-पर्वमें प्रकट किये गये हैं।

उत्तर भारतमें नवीन धर्मोंके उदयका जो आन्दोलन हो रहा था उसीकी यह प्रतिध्वनि है। दिल्लीके आसपासके प्रदेशमें अर्थात् आर्यावर्त्तमें एकेश्वरवादी नारायणीय धर्म विकसित हो रहा था और दूसरी ओर विहारमें नीति तत्त्वोंको सार्वभौम श्रेष्ठता देनेवाले जैन और बौद्ध धर्म उदयाचलपर आ रहे थे। उसी समयके ये विचार हैं। इसलिए व्यासका धर्म-लक्षण धार्मिक विचारोंके कलशपर पहुँच गया। तभी परलौकिक कल्पनाओंको उतरती कला लगी और वास्तविक जीवनको महत्त्व देनेवाली विचारप्रणाली उद्भूत हुई। परन्तु उसमें परिपक्वता बिल्कुल नहीं आने पाई। उस विचार-सरणिका सांगोपांग विचार नहीं हुआ। वह बीचमें ही खुट गई। महाभारतमें बुद्धि-वादी वस्तु-निष्ठ विचारोंके केवल अंकुर फूटे हैं परन्तु उनमें प्रगल्भता बिल्कुल नहीं आई है। क्योंकि स्वर्ग-नरक, देवता, कर्म-विपाक आदि पारलौकिक कल्पनाओंके बन्धनसे महाभारतीय विचार बिल्कुल मुक्त नहीं हुए थे। यह महाभारतके शान्तिपर्व और अनुशासन-पर्वके सैकड़ों उदाहरण देकर दिखलाया जा सकता है।

व्यासका धर्म-लक्षण

धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मेण विधृता प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
—म० भारत शान्तिपर्व १०९।११

× महाभारत शान्ति० २५९, अनुशासन १६२–१२३

+ महाभारत शान्ति० २६२, ३५

"धारण करता है इसलिए धर्म कहा जाता है। कारण धर्मसे ही प्रजाका धारण होता है। इसलिए जो धारणसंयुक्त होता है वही निश्चयसे धर्म है।" इसके बाद आगेके ही श्लोकोंमें अहिंसा और प्रभव (विस्तार, बढ़ती, सामर्थ्य) ये धर्मके लक्षण कहे हैं। लोक-यात्रा या लोक-व्यवहारको अच्छी तरह चलाना ही धर्मका सच्चा प्रयोजन है, यह व्यासने फिर एक बार कहा है—"लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः[1]।" इस जगतका लोक-व्यवहार अच्छी तरह चले, इसीलिए धर्मका नियम किया गया है। व्यासके इस विचारपर अर्थशास्त्रमें[2] बृहस्पति और उशना (शुक्र) के विचारोंकी छाप पड़ी हुई दिखती है। कौटिलीय अर्थशास्त्रमें विद्याओंकी गिनतीके प्रसंगमें धर्मविद्या (त्रयी) को बृहस्पतिने स्वतंत्र क्यों नहीं गिना, इसका कारण यह बतलाया है कि लोक-यात्राके तत्त्वज्ञानका विचार करनेवालोंकी दृष्टिमें धार्मिक आचार लोगोंको सन्मार्गमें लगाये रहनेकी एक जुगत[3] है। उसमें पारलौकिक तथ्य कुछ नहीं है। व्यास इस स्थानमें और भी कहते हैं कि समाज-धारक कर्मसे ही सिद्धि प्राप्त होती है।

व्यासकी बुद्धिवादी भूमिका

शान्ति-पर्वके ये धर्म-विषयक विचार सूचित करते हैं कि उस समय धर्म-मीमांसा समाज-धारणा-शास्त्र बननेके मार्गमें लगी थी। यह महाभारतके आगे बतलाये हुए महत्त्वके मुद्दोंसे निश्चित होता है। (१) महाभारतके कर्त्ता धर्म-निर्णयके महत्त्वपूर्ण साधन अर्थशास्त्रोंको निर्दिष्ट करते हैं जिनमें कि राज्य-संस्थाका विचार किया गया है[४]। (२) धर्म केवल आगमसे सम्पूर्ण अवगत नहीं होता[५]। (३) आगम अर्थात् ऋषियोंके संग्रह किये हुए अनेक लोगोंके विचार। (४) आपद्धर्मोंकी सम्पूर्ण गणना आगम नहीं कर सकते[६]। (५) युग-भेदसे धर्म-परिवर्त्तन होता है जैसे कि वर्ण-संस्था और वर्ण-धर्म शाश्वत नहीं हैं। वे एक विशिष्ट कालमें ही समाजमें आये हैं[७]।

---

१ शान्ति २५९।४। लोक-व्यवहारस्थापनं धर्म-शास्त्रस्य विषयः।—न्यायभाष्य ४।१।६२। २ शान्ति १४२; ३३५।४५-४९। ३ संवरणमात्रं त्रयी लोकयात्राविद इति।—कौटिलीयार्थशास्त्र, विद्यासमुद्देश। ४ शांति० १४२।११; २५९।३। ५ शांति० १४२।३। ६ शांति० २६०।३। ७ महाभारत—वन० १८० शांति० १८६; २६०; अनु० १४३।

पहले एक समय था जब कि चातुर्वर्ण नहीं थे, एक ही वर्ण था। (६) विशिष्ट स्थितिमें राजा और राज्य-संस्थाके बिना भी समाज-संस्था मजेसे चलती थी[१]। (७) चार वेद जब नहीं थे तब भी समाज उच्च-स्थितिमें था[२]। (८) विवाह-संस्थामें सवर्णोंके व्यभिचारको मान्यता थी, इससे विवाह-संस्थामें अनेक परिवर्त्तन घटित हुए हैं[३]। (९) वेदोंकी पशु-यज्ञ-संस्था पापी और लोभी मनुष्योंने प्रवृत्त की है[४]। (१०) सत्य, अहिंसा, संयम इत्यादि नैतिक परम धर्म तक पूर्ण नहीं हैं, बल्कि उनका भी तारतम्य देखकर आचरण करना पड़ता है। मानवी जीवनकी सर्वकष परीक्षासे ही उनका मूल्य ठहरता है[५]। उनको सापेक्ष प्रामाण्य है, स्वतःसिद्ध श्रेयस्करत्व नहीं है। महाभारतकार उपर्युक्त मूलगामी विचार बतलाते हैं। इन विचारोंसे सहज ही यह विश्वास हो जाता है कि दो हजार वर्ष पहले भारतीय मीमांसा वैचारिक विकासकी बहुत ऊपरकी सीढ़ीतक पहुँच गई थी। विशेषतः परम धर्म मानी गई नैतिक मूलभूत कल्पनाओंकी सापेक्ष व्यवस्थाका विचार तो भारतीय विवेचनात्मक (Critical) दृष्टिका सर्व-गामित्व ही प्रमाणित करता है।

इस विवेचनसे प्रश्न होता है कि तब महाभारतकालकी धर्म-मीमांसाको पूरी पूरी बुद्धिवादी और वस्तु-निष्ठ विचार-सरणिपर खड़ी हुई क्यों न कहा जाय? इसका उत्तर बहुत सुगम है। महाभारतमें, खास तौरसे शान्ति और अनुशासन पर्वमें, परलोक, पुनर्जन्म, कर्मफल, देवता, ईश्वर, त्रिकालज्ञ योगी, दिव्य-दृष्टि ऋषि, परमेश्वरके अवतार, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक आदि अलौकिक पदार्थोंके वर्णनोंकी भी कमी नहीं है। यह कहा जा सकता है कि सिर्फ सामान्य लोगोंको सत्पथमें लगानेके लिए ये निश्चित किये हुए संकेत हैं। परन्तु इसके लिए कहीं भी कोई प्रत्यक्ष आधार नहीं है। बल्कि इसके विपरीत मोक्ष-धर्म प्रकरणमें की हुई वेदान्त और गीताकी तत्त्व-चर्चा पारलौकिक कल्पनाओंका महत्त्व ही स्थापित करती है। गीता और मोक्ष-धर्म पर्वमें जिन श्रद्धेय तत्त्वोंकी चर्चा की गई है उसे गौण मानना एक तरहसे मूल-ग्रंथकारके विचारोंके साथ अत्याचार करना है।

---

१ शांति० ५९।१४।१५। २ भागवत स्कं० ११ अ १७। ३ महाभारत आदि० १२२।३।२१। ४ महा भारत शांति० २६२।३७-५२। ५ महाभारत आदि० ५२; शांति० १५; १३९; १२९।

दफ्तरीकी धर्म-मीमांसा

अब यहाँ धर्म-लक्षणके सम्बन्धमें कुछ आधुनिक समीक्षकोंकी विचार-सरणि उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है। जिस तरहकी विचार-सरणि यहाँ उद्धृत की जायगी उसे भारतके बहुतसे विद्वानोंने व्यक्त किया है। इस सम्बन्धमें जिन जिनने अपने विचार स्पष्ट और सुव्यवस्थित रीतिसे व्यक्त किये हैं, उनमेंसे कुछ चुने हुए व्यक्तियोंका ही यहाँ उल्लेख किया जाता है, जैसे लोकमान्य तिलक, विद्वद्रत्न के० ल० दफ्तरी, ह० कृ० मोहनी। लोकमान्य तिलकके विचारोंकी समीक्षा धर्म-प्रमाण प्रकरणमें की जायगी। दफ्तरीकी धर्म-मीमांसा बुद्धिवादपर आधारित है। उन्होंने अपने विचार गणितके समान स्पष्ट और सुव्यवस्थित पद्धतिसे 'धर्म रहस्य' और 'धर्म-विवाद-स्वरूप' नामक ग्रन्थोंमें प्रकट किये हैं। उनके अनुसार धर्म दो तरहका है—एक निःश्रेयस-लक्षण और दूसरा चोदना-लक्षण। निःश्रेयसका अर्थ है आत्यन्तिक सुख और दुःख-नाश। इस निःश्रेयसका जो साधन है वह धर्म है। मनुष्यकी बुद्धिको ही यह अवगत हो सकता है कि कौनसे कर्म निःश्रेयसके साधन हैं और कौनसे नहीं। एकाग्र-चित्तसे निःस्वार्थ होकर विचार करनेसे धर्म-अधर्मका निर्णय किया जा सकता है। स्थिर-बुद्धि और निःस्वार्थ साधु सुजन धर्म-निर्णय करते हैं। उनके द्वारा निर्णीत होकर प्रतिपादित किया गया धर्म ही चोदना-लक्षण धर्म है। निःश्रेयस-लक्षण धर्म ही चोदना-लक्षण धर्मका आधार है।

वासनाका क्षय अथवा वासनाका अभाव ही सुख है। ऐहिक और परलौकिक सारे ही सुखोंका यही एक स्वरूप है। यह सुख वासना-क्षय करनेके प्रयत्नसे और इतर जीवोंका प्रेम सम्पादन करनेसे प्राप्त होता है। ऐहिक और परलौकिक सुखका स्वरूप समान होनेके कारण जिस कर्मसे इहलोकमें सुख प्राप्त होता है उसी कर्मसे परलोकमें भी सुख होता है। इसलिए परलोक बुद्धि-गम्य न होने पर भी ऐहिक दृष्टिसे सुख-साधक होनेवाला धर्म परलोकमें सुख-साधक होगा ही।

यह दफ्तरीजीके विचारोंका संक्षिप्त सार है। उनका एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा मान्य करने योग्य है और वह यह कि धर्म मनुष्य-बुद्धि-गम्य है। इसका अर्थ

दफ्तरीजीने यह किया है कि सारे विधि-निषेध, वेद, स्मृतियाँ और पुराण मनुष्य-बुद्धिने ही निर्माण किये हैं। दूसरे अनेक मुद्दे आक्षेप योग्य बाकी रह जाते हैं। दफ्तरीजीका धर्म-विवेचन एक दृष्टिसे अपूर्ण दिखता है। उन्होंने यह तो कहा कि श्रुति, स्मृति, पुराणोंकी सारी कल्पनाएँ मानव-बुद्धिसे निकली हैं, परन्तु उसी विचारकी तर्क-प्राप्त दूसरी बाजू उपस्थित नहीं की। वह इस प्रकार कि जब यह मान लिया गया कि धर्म-ग्रन्थ मनुष्य-बुद्धि-जन्य हैं, तब उनकी सारी कल्पनाओंकी परीक्षा सत्यासत्यकी दृष्टिसे करनी होगी और यह परीक्षा शुरू की गई कि धर्म-ग्रन्थोंका, अर्थात् 'चोदना-लक्षण' धर्मके प्रतिपादनमें जो कल्पनाएँ हैं उनका, भ्रम अथवा मिथ्यात्व आँखोंके आगे आ जायगा। उनमेंकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जानेवाली कल्पनाएँ मूर्खतापूर्ण और बेहूदी दिखती हैं। यह कौन नहीं जानता कि अथर्ववेदकी सैकड़ों विधियाँ अर्थात् जादूके प्रयोग और जारण, मारण, उच्चाटन आदि क्रियाएँ बालिश और भ्रान्ति-कल्पित हैं ? वेदोंका मुख्य प्रतिपाद्य धर्म यज्ञ है और उस यज्ञकी आधारभूत कल्पना केवल भ्रान्ति है। ये वैदिक यज्ञ सृष्टि-विषयक कार्य-कारण-भावके तत्कालीन गहरे अज्ञानके महान् प्रतीक हैं। जब वेद कहता है कि दर्शपूर्णमासेष्टीसे धन, धान्य, पशु, कारीरीष्टीसे वर्षा, पुत्रेष्टिसे पुत्र, उद्भिद्-यागसे पशु, श्येन-यागसे शत्रु-नाश आदि फल मिलते हैं, तब यही कहना पड़ेगा कि ये यज्ञ और तज्जन्य फलोंका कार्य-कारण-भाव बतलानेवाले वेद भ्रान्ति-मूलक हैं। वेद यदि मनुष्य-कृत हैं तो इस बातको सिद्ध करनेमें जरा भी अड़चन नहीं पड़ेगी कि वे भ्रान्तिजन्य हैं और तब बहुत-सी वेद-राशि भ्रान्ति-प्रमादोंका सागर है, यह सहज ही ठहराया जा सकेगा। जिस प्रकार ग्रामीण लोग समझते हैं कि शीतला, महामाया, काली माता, खंडोबा, भैरों आदि देवी-देवताओंके कोपसे बाल-मृत्यु और संक्रामक-रोग होते हैं और वे तदनुसार उन देवताओंकी बलि-समर्पणपूर्वक आराधना करते हैं, ये वैदिक यज्ञ भी वैसे ही हैं ऐसा दफ्तरीजी साफ साफ क्यों नहीं कहते ? दफ्तरीजी कह सकते हैं कि वैदिक यज्ञ वासनाके नाशके लिए जीव-प्रीति सम्पादनार्थ कहे गये हैं परन्तु ऐसा कहनेके लिए कोई प्रमाण नहीं है। वैदिक धर्म साधुओंकी शुद्ध-बुद्धिका निर्णय है या प्राचीन भ्रान्ति-ग्रस्त आर्योंका धार्मिक रीति-रिवाज ? दफ्तरीजीको चाहिए कि वे अपनी शुद्ध-बुद्धिके द्वारा यह मान लें कि प्रकृतिके

कार्य कारण-भावका अज्ञान और तज्जन्य भ्रान्तिके कारण ही वैदिक यज्ञ और देवता उत्पन्न हुए।

दफ्तरीजी अपने 'धर्म-रहस्य' में कहते हैं कि स्मृतियाँ शुद्ध-बुद्धिवाले साधुओंके दिये हुए निर्णय हैं। शूद्रोंको ज्ञान और मान न दो; उनके धनका अपहरण निर्धन ब्राह्मण और द्विज यज्ञके अवसरपर अथवा दुष्कालमें मजेसे करें; आपत्ति-कालमें शूद्र यदि ऊपरके वर्णका कर्म करने लगें तो उन्हें कठिन और क्लेशकारक देह-दण्ड दो। ऊपरके वर्णके लोग आपत्ति-कालमें नीचेके वर्णके काम उपजीविकाके लिए भले ही कर लें परन्तु नीचेके वर्णको ऊँचेके वर्णके काम न करने चाहिए। यदि वे ऐसा करें तो उनका निर्दय उपायोंसे निग्रह किया जाय। शूद्र वर्ण यदि उच्च वर्णवालेका अपमान करे या गाली दे, तो उसकी जीभ छेद देना चाहिए। परन्तु यदि उच्चवर्णी वैसा करे तो उसे केवल सचेत करके छोड़ दे। ब्राह्मण जातिके मनुष्यको चाहे उसने कितना भी बड़ा अपराध किया हो मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जाय। ब्राह्मणेतरने अथवा शूद्रने आर्य-वर्णकी अथवा ब्राह्मण-वर्णकी स्त्रीके साथ उसकी सम्मतिसे भी यदि संभोग किया हो या विवाह किया हो, तो उसे चौराहेपर तुषाग्निमें जला देना चाहिए; परन्तु आर्य या ब्राह्मण निम्न वर्णकी या शूद्र स्त्रीके साथ प्रसंग करे तो उसे कोई दण्ड न दिया जाय और यदि दिया जाय तो केवल धन-दण्ड। शूद्रके वेद-पाठ सुननेपर गलाए हुए सीसेका रस उसके कानोंमें डालना चाहिए और यदि उसने वेद-पाठ किया हो तो उसे करौंतसे चीर देना चाहिए। इत्यादि सैकड़ों कानून-कायदे गौतम, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, कात्यायन आदि प्रसिद्ध स्मृति-कारोंके धर्म शास्त्रोंमें लिखे हुए हैं। दफ्तरीजीके अनुयायी उनके धर्म-निबन्धके अनुसार यदि कहने लगें कि यह धर्म निष्पक्षपात, शुद्ध-चित्त, आर्य-साधुओंने ही कहा है तो उनकी तारीफ ही करनी पड़ेगी! ऊपर लिखे हुए उदाहरण केवल दिग्दर्शनके लिए ही उद्धृत किये गये हैं। श्रुति, स्मृति, पुराण, महाभारत आदि धर्म-साहित्यमें कहा हुआ 'चोदना-लक्षण' धर्म स्थित-प्रज्ञ साधुओंकी बुद्धिका निर्णय है, दफ्तरीजी यह कैसे सिद्ध करेंगे? उन्हें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि प्रत्येक रूढ़ धर्म-शास्त्र फिर चाहे वह आर्यावर्त्तका हो या म्लेच्छ-देशका, तत्कालीन विशिष्ट सत्ताधारी वर्गके हितोंकी रक्षा किये बिना नहीं रहता। उसमें किस व्यक्तिका नेतृत्व है, यह प्रश्न

गौण ही रहता है। फिर वह व्यक्ति ऋषि, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य अथवा गांधी, इनमेंसे कोई भी हो।

दफ्तरीजीने धर्म-लक्षण-निरूपणके प्रसंगमें जो सुखकी उपपत्ति की है वह अत्यन्त चिन्तनीय है। लोकमान्य तिलकने गीता-रहस्यमें इस उपपत्तिका थोड़ेमें बहुत अच्छा खंडन किया है। * दफ्तरीजी कहते हैं कि वासनाभाव ही सुखका स्वरूप है। सुख अभावात्मक नहीं है, मनकी वह एक भावरूप (Positiue) संवेदना है। (१) मनमें कोई भी वासना, आकांक्षा अथवा उत्कंठाके न रहते हुए भी आकस्मिक रीतिसे विषय-संसर्ग घटित होनेपर सुख-संवेदना निर्माण होती है। समुद्रका, सूर्यास्तका, वनश्रीका, सुंदर स्त्रीका अथवा फूलोंका आकस्मिक इन्द्रिय-जन्य अनुभव होनेके साथ ही पहलेसे अपेक्षा न रहते हुए भी सुख-संवित्तिका उन्मेष होता है। (२) भिन्न भिन्न इन्द्रियोंसे होनेवाली सुख-संवेदना, भिन्न भिन्न जातिकी होती है। सुख यदि अभाव है, तो सारे ही अभाव स्वरूपतः समान ही होंगे, उनमें विचित्रताका अनुभव कैसे होगा? सुखोंकी विचित्रता सर्व-संवेद्य है। केवल इन्द्रिय-वैचित्र्यके कारण सुख-वैचित्र्य निर्माण नहीं होता। (३) विषय-वैचित्र्यमें भी सुख-वैचित्र्य रहता है। (४) इसी तरह सुख-संवेदनमें भी बहुत तारतम्य रहता है। (५) मानसिक आनन्दका भी यही हाल है। गणित-जन्य और काव्य-जन्य आनन्दमें विजातीयता रहती है। (६) आनन्दके स्वरूप विचित्र और अनन्त प्रकारके रहते हैं। आस्वाद लेनेवाले व्यक्तिकी परिस्थिति, आस्वाद्य विषय और साधनोंके अगणित भेद होनेके कारण सुखके भी अगणित भेद होते हैं। (७) जो बात सुखकी है वही दुःखकी समझनी चाहिए। दुःखके स्वरूपको विवृत करके देखो तो सुखके स्वरूपका विवरण भी ठीक वैसा ही करना पड़ेगा। दफ्तरीजीका सुख-सिद्धान्त बिलकुल अपूर्ण है। वासनाका अभाव ही एकमात्र इष्ट नहीं है। वासनाका अभाव मनुष्यके अनेक इष्टोंमेंसे विशिष्ट परिस्थितिका एक इष्ट है। कभी कभी वासना भी मनुष्यके लिए इष्ट बन जाती है। महत्वाकांक्षीकी जगत् प्रशंसा करता है। भूख बढ़ानेके लिए और काम-वासनाके उद्दीपनके लिए वैद्यक-शास्त्रोंमें उपाय बतलाये हैं। वासना किसी खास स्थितिमें ही दुःखकारक और दुःखरूप बनती है।

* गीता-रहस्य, सुखदुःखविवेक प्रकरण देखिए।

दफ्तरीजी धर्मका मुख्य लक्षण सुख-साधकता बतलाते हैं, परन्तु यह धर्मका लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि बहुतसे सामाजिक कर्तव्य ऐसे होते है कि उनसे व्यक्तिको दुःख और संकट ही मिलता है फिर भी उन्हें पूरा करना पड़ता है। इसपर कोई यह कहेगा कि किसी भी व्यक्तिकी कर्म-प्रवृत्ति सुखार्थ अथवा दुःख-निवारणार्थ होती है। परहितार्थ निरंतर रत रहनेवाले साधु और सर्वथा स्वार्थी कृपण मनुष्य इन दोनोंकी ही प्रवृत्ति सुखार्थ ही होती है। फाँसीपर जानेवाले देश-भक्तको भी एक प्रकारका सुख प्राप्त होता है। इसका उत्तर यह है कि तो फिर सुखसाधकता धर्म्य और अधर्म्य ठहरानेकी कसौटी नहीं हो सकती। कारण एक ही क्रिया कितने ही व्यक्तियोंके लिए सुख-साधन और कितने ही व्यक्तियोंके लिए दुःख-साधन हो जाती है। यज्ञके पुरोहितको दान करना यह क्रिया वेदोंपर श्रद्धा रखनेवाले यजमानको सुख-संतोष देती है और यही क्रिया वेदोंपर श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्यको विषाद और असंतोष उत्पन्न कर कर देती है, क्योंकि विशिष्ट कर्त्तव्योंका मूल्य विशिष्ट सामाजिक स्थितिमें ही उत्पन्न होता है। सनातन धर्मकी परम्परापर विश्वास रखनेवाले चमारको अस्पृश्यताके, गुलामगीरीके, नियम पालनेमें अत्यन्त सुख सन्तोष मिलता है और उसपर श्रद्धा न रखनेवाले चमारको दुःख और पाप जान पड़ता है। इस तरह सुख-साधकता धर्मका लक्षण नहीं बन सकता। समाजके सुखका और सुखके साधनोंका विचार करके जो सब मिलाकर सुख-साधक ठहरेगा वही धर्म है, यदि ऐसी व्याख्या की जाय तो वह अधिक विचारार्ह ठहरेगी। जान स्टुअर्ट मिलने नीतिकी यही व्याख्या की है।

दफ्तरीजीका सुखवाद सन्यास-मार्गी है। कारण, उन्होंने सुखका अर्थ वासना-नाश किया है। समाज-धारणा-शास्त्रसे यह सिद्धान्त विसंगत है, क्यों कि यदि वासना-क्षय ही ध्येय ठहर गया, तो बड़े बड़े सामाजिक व्यवहारों और सुधारोंसे छुट्टी ले लेना कर्त्तव्य हो जायगा। कदन्न और कन्द मूलादिसे किसी तरह उदर-निर्वाह करके वासनामय जीवनके क्षयकी राह देखना और मृत्युका अभिनंदन करना ही धर्म-मार्ग अथवा परम धर्म ठहरता है। बाकीके सारे घटाटोप व्यर्थ हैं। जो मर गया वह छूट गया। जो जीता रहा वह अधर्ममें जिया। कारण, जीवन वासनाकी जागती ज्योति है।

दफ्तरीजी धर्म शास्त्रोंकी अलौकिक-वस्तु-विषयक कल्पनाओंकी कुछ भी मीमांसा नहीं करते। देवता, आत्मा, स्वर्ग-नरकादि परलोक, और कर्मफल आदि अलौकिक वस्तुओंकी मीमांसा किये बिना धर्म-मीमांसा पूरी नहीं होती। इन अलौकिक वस्तुओंकी कल्पनाओंका इतिहास है और वह ज्योतिष-शास्त्रके इतिहास सदृश नहीं है। ज्योतिष-शास्त्रमें मनुष्यने साधारणतः पहलेसे छोटे सत्यसे बड़े सत्यकी ओर प्रवास किया है। अलौकिक कल्पनाओंमें मनुष्य-जातिकी भ्रान्तियोंका ही बहुत-सा इतिहास है। इतिहासके जुदे-जुदे काल-खण्डोंमें इन कल्पनाओंके स्वरूप स्थूल अथवा सूक्ष्म रूपसे बिलकुल भिन्न भिन्न होते आये हैं।

श्री ह० कृ० मोहिनीने 'अमचा सनातन धर्म' नामक पुस्तकमें धर्म-लक्षणका विचार किया है। वे कहते हैं कि "धर्म अर्थात् समाज-धारणाके नियम अथवा सामाजिक जीवनके कानून-कायदे। ये कायदे समाज-संस्थाके प्राण होते हैं। यही कायदे जैमिनीका कहा हुआ 'चोदना-लक्षण धर्म' हैं।

मोहिनीका सनातन धर्म

इसलिए पूर्व-मीमांसा ही समाज-धारणा-शास्त्र है। आध्यात्मिक शास्त्र समाज-धारणा-शास्त्रसे भिन्न है। अध्यात्म-शास्त्र आत्मा, ईश्वर, स्वर्ग और मोक्षका विचार करता है। उत्तर-मीमांसा अध्यात्म-शास्त्र है। अध्यात्म वैयक्तिक होता है और धर्म सामाजिक। यज्ञ, संस्कार, वर्णाश्रम-धर्म, समाज-धारक धर्म हैं। समाज-धारणा-शास्त्र और अध्यात्म शास्त्र इन दोनोंकी पूरी फारखती हो जाना चाहिए।"

इस बँटवारेको हम भी पसन्द करते हैं, परन्तु श्रुति-स्मृतियोंका धर्म-शास्त्र आध्यात्मिक या अलौकिक पदार्थोंकी कल्पनाओंसे ओत-प्रोत है। जैसा कि मोहिनीजी कहते हैं, हमें अध्यात्म और वैदिक स्मार्त धर्मका पृथक्त्व दिखलाई नहीं देता। इनमें पूरा मेल है। पूर्व-मीमांसामें समाज-धारणाके तत्त्वोंका विवरण नहीं दिया है। वह तो सिर्फ वेदोंका अर्थ लगानेवाला शास्त्र है। वेदोंके यज्ञ समाज-धारणाकी सर्व-श्रेष्ठ संस्था नहीं कहे जा सकते। उनमें देवता, परलोक, पाप, पुण्य आदि सारी आध्यात्मिक कल्पनाओंका संग्रह है। सारे यज्ञ इन्हीं कल्पनाओंपर खड़े किये गये हैं। जिस कर्म-कांडका महत्त्व पूर्व-मीमांसाको मान्य है वह ब्राह्मण-ग्रन्थोंका यज्ञ है। यह कर्म-कांड

कोरा आडम्बर है, इसे आज कलके सुशिक्षित सहज ही समझ जायँगे। वैदिक यज्ञ बहुत ही पिछड़ी हुई समाज-संस्थाके द्योतक हैं।

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वैशेषिक दर्शन १।१।२)

कणादका धर्म-लक्षण

जिसके योगसे अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है वह धर्म है। यह लक्षण बहुत प्रसिद्ध है। अभ्युदय यानी ऐहिक और पारलौकिक आनन्द और उसके साधन। जिस स्थितिमें अनिष्टकी अपेक्षा इष्ट अधिक होता है उस स्थितिको अभ्युदय कहते हैं। निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष, शाश्वत अथवा सर्वोच्च अन्तिम साध्य। जिस स्थितिमें किसीकी भी अपेक्षा नहीं रहती और सम्पूर्ण समाधान या सन्तोष होता है, वह निःश्रेयस है। ये दो साध्य जिस साधनसे प्राप्त होते हैं वह धर्म है।

वैशेषिक मतके मुख्य स्थापक आचार्य कणाद थे। उक्त लक्षण उनके रचे हुए सूत्र-ग्रन्थका है। वैशेषिकोंके मतसे प्रत्यक्ष आचरण अथवा क्रिया नहीं, किन्तु आचरण-कर्त्ताके आत्मापर होनेवाला जो अदृष्ट शुभ-संस्कार अथवा पुण्य-परिणाम है वह धर्म है और इससे उल्टे असदाचरणका पापरूप अशुभ अदृष्ट परिणाम अधर्म है। यह मत-भेद केवल शब्दार्थका है। वास्तवमें कोई महत्त्वका भेद नहीं है। कारण, सदाचरणके और असदाचरणके अदृष्ट परिणाम ही मनुष्य अथवा प्राणीको प्राप्त होनेवाली सुस्थिति और दुःस्थितिके असली कारण हैं और ऐसा सभी आस्तिक मानते हैं। उनमें छहों दर्शनोंके कर्त्ता और बौद्ध तथा जैनाचार्य भी आ जाते हैं। सिर्फ चार्वाक बृहस्पति आदि देहात्मवादी नास्तिक ही अदृष्ट नहीं मानते। इस अदृष्टको ही पूर्व-मीमांसक अपूर्व कहते हैं। ईश्वर-कृपा भी अदृष्टका ही परिणाम है, ऐसा शैव और वैष्णव आचार्य मानते हैं। जो सदाचरणका परिणाम ईश्वर-कृपा और असदाचरणका परिणाम ईश्वर-कोप मानते हैं, उनके साथ अदृष्टवादका विरोध नहीं है। कारण, ईश्वरका कोप और कृपा ये भी तो आचरणके अदृष्ट परिणाम हैं। तत्त्वतः उनमें विरोध नहीं है।

सदाचरण और दुराचरण ठहरानेके साधन क्या हैं, इस विषयमें षट्दर्शनकार, बौद्ध और जैन इनमें अवान्तर मत-भेद हैं, जिनकी चर्चा धर्म-प्रमाण प्रकरणमें की जायगी।

वैशेषिक-सूत्रोंकी विचार-प्रणालीपरसे दिखता है कि वैशेषिकोंके उक्त लक्षणमें मानव-बुद्धि-गम्य कर्मका कार्य-कारण-भाव नहीं लिया है। धर्म-क्षेत्र मानव-बुद्धिके लिए अदृष्ट है, यही इसका तात्पर्य निकलता है। फिर भी वैशेषिक दर्शनकी मुख्य विशेषता यह है कि उसमें विश्वके स्वभावकी और कार्य-कारण-भावकी बौद्धिक उपपत्ति अत्यन्त व्यापक रीतिसे बतलाई है। इससे धर्म-चर्चाकी बौद्धिक नींव तैयार हुई है। परन्तु प्रत्यक्ष धर्म-चर्चा करते हुए अदृष्टका त्याग नहीं किया गया।

(२) धर्म-प्रमाण

धर्म-लक्षण-विचार और धर्म-प्रमाण-विचार ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, इसलिए अब धर्म-प्रमाणके स्वरूपका विवेचन करना आवश्यक है। धर्मकी प्रमितिका—ज्ञानका साधन धर्म-प्रमाण है।

लौकिक और अलौकिक प्रमाणवाद

इस सम्बन्धमें दो पक्ष हैं। एक पक्ष कहता है कि धर्म मानव-बुद्धिगम्य है। मानव-बुद्धि ही धर्म और अधर्म ठहराती है। कोई भी धर्म-शास्त्र हो, मनुष्यके अनुभव और विचारसे उसका उदय हुआ है। वेद, अवेस्ता, बाइबल, कुरान आदि धर्म-ग्रन्थ मनुष्य-बुद्धिके ही प्रसाद हैं। मनुष्यकी मानसिक क्रियासे जिस तरह कृषि, वाणिज्य, शिल्प, राज्य-व्यवहार, जादू, वैद्यक, मंत्र, तंत्र, उत्पन्न होते हैं, उसी तरह सारे धर्म भी उत्पन्न होते हैं। मनुष्यके व्यावहारिक अथवा लौकिक बौद्धिक व्यापारोंके समान ही उसके धार्मिक अथवा अध्यात्मिक मानसिक व्यापार हैं।

इस विचार-सरणिको लौकिक प्रमाणवाद कह सकते हैं। दूसरा पक्ष अलौकिक प्रमाणवादका है। यह पक्ष कहता है कि धर्म-अधर्मका ज्ञान असाधारण या अलौकिक बौद्धिक या मानसिक व्यापारसे ही होता है। इस अलौकिक साधनको दिव्य-चक्षु, दिव्य-दर्शन, अपौरुषेय शब्द, आध्यात्मिक साक्षात्कार, अतीन्द्रिय यौगिक प्रत्यक्ष, आर्ष-प्रज्ञा अथवा सिद्ध-पुरुषोंकी त्रिकाल-दृष्टि कहते हैं।

उक्त दोनों पक्षोंमें अनेक अवान्तर भेद हैं। पहले पक्षके ऐतिहासिक और अनैतिहासिक दो भाग हैं। ऐतिहासिक पक्षका स्वरूप पहले व्याख्यानमें कहा जा चुका है। उसके अनुसार मनुष्यकी प्राथमिक स्थितिसे लेकर आधुनिक सुधरे हुए समय पर्यन्त समाजमें जैसे परिवर्त्तन हुए हैं वैसे ही धर्मोंमें भी हुए हैं। कारण, इस सामाजिक विकास-क्रमसे ही मनुष्यके मनकी और बुद्धिकी परिणति हुई है और मानसिक परिणतिके अनुसार धर्ममें परिणति हुई है। धार्मिक अनुभव मनुष्यके साधारण अनुभवोंका ही एक भेद है। अलौकिकत्व या दिव्यत्व, एक आरोप है, वस्तुस्थिति नहीं।

ऐतिहासिक और अनैतिहासिक प्रमाण-वाद

हाल ही हमारे देशमें अनैतिहासिक धर्म-सुधारणावादी पक्ष उत्पन्न हुआ है। इस पक्षकी दृष्टिसे धर्म प्रगल्भ मानव-बुद्धिका विषय है। संयमी, मननशील, निःस्वार्थी, साधुलोग समाज-धारणा अथवा मनुष्योंके उच्च सुखको ध्यानमें रखकर ही समय समयपर धर्म-संस्थापना किया करते हैं। इन सात्त्विक बुद्धिके स्थित-प्रज्ञ साधुओंको ही धर्म-निर्णय और धर्म-परिवर्त्तनका अधिकार है। उनकी शुद्ध और सात्त्विक बुद्धिके द्वारा ही यह निश्चय होता है कि समाज-धारक और श्रेयस्कर कर्म क्या क्या हैं। जो कर्म ऐहिक दृष्टिसे श्रेयस्कर हैं वही पर-लोकमें श्रेयस्कर होते हैं। यद्यपि परलोकका स्वरूप निश्चित करना कठिन है तथापि जो इहलोकमें श्रेयस्कर हैं, वही परलोकमें भी श्रेयस्कर होंगे। कारण, श्रेयस्करताका कार्य-कारण-भाव दोनों तरफ एक-सा रहेगा। विद्वद्रत्न दफ्तरीजीने इस पक्षका बहुत उत्तम रीतिसे प्रतिपादन किया है। महाराष्ट्रमें तत्त्व-निष्ठ-परिवर्त्तनवादी सुशिक्षितोंका एक दल तैयार हुआ है। दफ्तरीजी उन्हींमेंसे एक हैं। उनके मतकी आलोचना पहले की जा चुकी है।

बृहस्पति-पक्ष और व्यास-पक्ष

बृहस्पति, चार्वाक, उशना आदि प्राचीन अर्थशास्त्रज्ञ प्रतिपादित करते थे कि धर्मकी उत्पत्ति मानव-बुद्धिसे ही हुई। चार्वाक और बृहस्पतिके कुछ अनुयायी कहते थे कि सारी पारलौकिक और अलौकिक धार्मिक कल्पनाओंका जन्म मानवी भ्रान्ति, प्रमाद और विप्रलिप्सा या

लोगोंको फँसानेकी इच्छासे हुआ है। धार्मिक ग्रन्थ, अनृत, व्याघात और पुनरुक्तियोंके जमघटे हैं।

महाभारतसे मालूम होता है कि प्राचीन कालमें ऐसे अनेक तत्त्ववेत्ता थे जो नीतिको ही धर्मका सार मानते थे और संयम-जन्य श्रेय तथा सर्वभूत सुखको ही मनुष्यका श्रेष्ठ ध्येय समझते थे। उनके मतसे धर्मका निर्णय करनेके लिए अलौकिक शास्त्र-प्रमाणकी आवश्यकता न थी। यह महाभारतोक्त पक्ष प्राचीन कालमें था और कुमारिल भट्टने श्लोकवार्त्तिक (१।१।५।१-३) में इसका खबर ली है। इस पक्षका सार यह बतलाया है कि लोक-हितकारक और लोक-सुखकारक जो कर्म हैं वह धर्म और लोक-दुःखकारक कर्म अधर्म। यह रहस्य जो समझ गया उसके लिए शास्त्र व्यर्थ है—व्यर्थं शास्त्रप्रयोजनम्। कुमारिलने इस पक्षको अमान्य बतलाया है। कारण स्पष्ट है। श्रुति-स्मृतियोंके और परम्पराके बहुतसे विधि-निषेध इस कसौटीपर ठीक नहीं उतर सकते। श्रौत-स्मार्त-परम्पराको चोट पहुँचानेवालोंका यह पक्ष अति-प्राचीन अवैदिक परम्परामें निर्माण हुआ था और वैदिकोंमें भी रूढ़ होने लगा था।

श्लोकवार्त्तिकमें जिसका उल्लेख है वह व्यास-पक्ष महाभारतके शान्ति और और अनुशासन पर्वकी चर्चामें प्रतिबिम्बित हुआ है। अवश्य ही वह चर्चा जितनी चाहिए उतनी विशद और संदेह-हारक नहीं है।

उक्त चर्चाका सार यह है कि दीर्घकालपर्यन्त तत्परतासे कार्य-कारण-भावका अवलोकन और मनन करनेसे धर्मका निश्चय किया जा सकता है (अनु० १६२।७।८)। वेद, अनुभव और परम्परागत आचार इन तीन साधनोंसे धर्मका ज्ञान होता है। यह यद्यपि ठीक है तो भी इन तीनों साधनोंमें मूलतः कोई फर्क नहीं है। आचार केवल परम्परासे चले आये हैं, इस कारण प्रमाण नहीं हैं। उनके भी कारणोंकी

(१) तदप्रामाण्यं। अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः। —न्यायसूत्र

(२) श्रीयुत् के० ल० दफ्तरीने लोक-शिक्षण (१९३७) और वागीश्वरी नामक मराठी मासिक पत्रोंमें 'तात्त्विक-मीमांसा-पद्धति' और 'शान्ति और अनुशासन पर्वका बुद्धि-गम्य धर्म' नामक निबन्धोंमें यह चर्चा बहुत अच्छी तरह की है।

छान-बीन करनी चाहिए (शान्ति० २६२।५४)। धर्म-अधर्मका निर्णय करनेके लिए बुद्धिका ही अवलम्बन करना आवश्यक है (शान्ति० १४१।१०२)। बुद्धिसे गलत ठहरनेवाला शास्त्र-वचन निरर्थक है (शान्ति० १४१।२२)। केवल शास्त्र-वचनोंसे और केवल बुद्धिसे धर्म-ज्ञान नहीं होता। किन्तु दोनोंकी परस्पर सहायता लेनी चाहिए। कारण, शास्त्र-वचनोंमें भी कुछ न कुछ युक्तिवाद रहता ही है (शान्ति० १४२।१७।१८)। धर्म-ज्ञान केवल शास्त्र-वचनोंसे होना शक्य नहीं है। कारण, धर्म-शास्त्र भिन्न भिन्न और सम विषम परिस्थितियोंके विविध धर्म कैसे कह सकेगा ? सारी आपत्तियोंकी गणना ग्रंथकार कैसे कर सकेगा ? युग-मानके अनुसार वेदोंका ह्रास होता आया है। यह केवल लोगोंकी समझ है कि वेद ही धर्मके प्रमाण हैं (शान्ति० २६०।१।१०)। जीवोंका आनन्ददायक आचरण ही धर्म है। यही धर्म-लक्षण साधुजनोंको मान्य है। हम उस तरह दूसरोंसे वर्त्ताव न करें कि जिसकी इच्छा हम दूसरोंसे नहीं कर सकते और दूसरोंसे जिस वर्त्तावकी हम इच्छा करते हैं, हम भी दूसरोंके साथ वही वर्त्ताव करें, यही धर्मका सार है (शान्ति १०९ और २५९)। द्रोह और लोभ न करना, इन्द्रिय-दमन, अध्ययन, तप, भूत-दया, सत्य, सहानुभूति, क्षमा और धैर्य यही सनातन धर्मकी निरपवाद जड़ें हैं (अनुशासन १६२।११६)। किसी किसी प्रसंगपर परिणामोंका विचार करके नित्य नैतिक तत्त्वोंमें भी अपवाद कारना पड़ता है (शान्ति० १०९।२५९)।

महाभारतका यह धर्म विवेचक बुद्धिवादपर आधारित नैतिक धर्म है। ये विचार श्रौत-स्मार्त्त कर्म-काण्डको गौणता देते हैं। जान पड़ता है कि महाभारतके इस कालमें विश्व-धर्म (Universal Religion) जन्म ले रहा था। इन विचारोंको उस समय श्रेष्ठत्व मिला जब विशिष्ट जमात और राष्ट्रोंके आगे जाकर मनुष्यताका महत्त्व ज्ञात होने लगा। इन्हीं विचारोंने विश्व-धर्मकी नींव डाली। मनुष्यके इतिहासमें यह एक महान् संक्रमणावस्था थी। इस समय ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग और निःश्रेयसकी पारलौकिक कल्पनाएँ नैतिक धर्मकी सेवा करनेके लिए हाजिर हो गईं। इन पारलौकिक कल्पनाओंने नैतिक आचरणको शाश्वत मूल्य दिया। इन कल्पनाओंके प्रामाण्यके विषयमें स्पष्ट और तर्क-शुद्ध चर्चा महाभारतमें नहीं मिलती। कल्पनाओंका प्रामाण्य श्रद्धासे मान लिया गया

है। केवल नैतिक आचरणका अव्यभिचार्य सम्बन्ध ही इन आध्यात्मिक और पारलौकिक तत्त्वोंसे महाभारत-कालमें जोड़ दिया गया है।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखना आवश्यक है कि महाभारतमें परस्परविरोधी सिद्धान्तोंका मिश्रण खूब है। इस कारण बुद्धि-वादी विचारसरणिका विरोधी अलौकिक प्रमाणवाद भी उसमें बलशाली दिखता है। त्रिकालज्ञ, योग-दृष्टि, दिव्य-ज्ञान, ईश्वर और ईश्वरकी विभूतियोंका उपदेश, इन अलौकिक धर्म-प्रमाणोंका स्वीकार जगह जगह दिखलाई देता है। गीतामें तो इसके भरपूर प्रमाण मिलते हैं। गीताके उपदेष्टा भगवान् कृष्ण तो परमात्माके पूर्ण अवतार हैं। व्यासजी कहते हैं कि वेद स्वयंभू परमात्माकी अनादिनिधन वाणी है। भारतकारने स्पष्टतासे यह कहीं भी नहीं कहा कि मानव-बुद्धि ही धर्माधर्मगतिका अन्तिम प्रमाण है।

महाभारत एककालीन और एकव्यक्तिनिर्मित ग्रन्थ नहीं है, इसलिए उसमें गहरी और उथली, उदात्त और तुच्छ कल्पनाओंका संस्कार हो गया है। एक ओर पौराणिक दरिद्र कल्पनाओंका कूड़ा-कर्कट और दूसरी ओर मनुष्यताके और विश्वके गहन सिद्धान्त महाभारतमें दिखलाई देते हैं।

वेदोंमें वेद-प्रमाण-विषयक विचार

अब हमें यह देखना चाहिए कि वेद अलौकिक दिव्यप्रमाण हैं या सीधी-साधी मानव-कृति, और इस विषयमें स्वयं वेद क्या कहते हैं। वेदोंका ईश्वरप्रणीतत्व और अपौरुषेयत्व ये देरसे आये हुए विचार हैं। वेद-कवि अथवा वेदके कर्त्ता अपनी कृतिके विषयमें अनेक तरहसे बोलते हैं। कुछ स्थानोंमें कहते हैं कि हमारा कवन (कवित्व) बढ़ईके रथके समान, जुलाहेके वस्त्रके समान, ग्वालेके निकाले हुए मक्खनके समान अथवा मल्लाहके नौकानयनके समान है (ऋग्वेद १०।११६।९)। दूसरे स्थानपर कहा है कि यह मन्त्र हमने मनसे बनाया है और मुखसे उचारा है (ऋग्वेद १।१७१।२, २।३५।२, ६।३२।१)। एक मन्त्र-कवि कहते हैं कि अमुक मन्त्र मुझे मिला (ऋग्वेद १०।६७।१)। दूसरे कहते हैं कि सोमरसका यथेच्छ पान करने पर जो तन्द्रा आई उसकी यह एक उत्कृष्ट स्फूर्ति है (ऋग्वेद ६।४७।३)। तीसरे कहते हैं कि मैं अपने कवन

(कवित्व) को बादलोंमेंसे फूटकर बाहर आनेवाली पावसकी धार समझता हूँ (ऋ० ७।९४।१)। वायु जिस तरह बादलोंको ले जाता है उसी तरह मेरा जीव कविताको ले जाता है। कुछ कालके बाद मंत्र-द्रष्टा इनकी अपेक्षा निराले ही विचार प्रकट करने लगे। वे ऐसा मानने लगे कि "कविकी बुद्धिको देव जाग्रत करता है, मित्रके समान सहायता करता है।" (ऋ० १। ३७।४, ६।४७।१०, ७।८८, ८।५२।३) आखिर ये ऋषि ऐसा समझने लगे कि देव स्वतः ही द्रष्टा और कवि है। वह देव ही मनुष्यको कवन सिखलाता है और मनुष्यके मुँहसे वे बाहर निकलते हैं (ऋ० १।१७९।२, ७।७६।४)

सूत्र-कालसे लेकर भाष्यकालपर्यन्त वेद-प्रामाण्य-मीमांसा

सूत्र-कालमें वेदकी प्रमाणताके सम्बन्धमें विवाद उपस्थित हुआ। यास्कने निरुक्त (१।१५) में कौत्स ऋषिका मत दिया है। वे कहते हैं कि वेद निरर्थक अर्थात् अर्थहीन हैं। यास्कके मतसे अलौकिक शक्तिवाले ऋषिको धर्मका साक्षात्कार हुआ। उसी ऋषिने स्वतः प्राप्त किये हुए मन्त्र नीचे दर्जेके लोगोंको सिखाये। कणादके वैशेषिक सूत्रोंमें इसी तरहका मत व्यक्त किया है। कणाद कहते हैं कि वेद बुद्धिसे निर्माण हुए हैं और अनेक पुण्योंके सामर्थ्यसे ऋषियोंको प्राप्त हुई दिव्य-दृष्टि ही उस बुद्धिका स्वरूप है*। पाणिनिके समयमें विश्वास था कि वेद लोक-विलक्षण हैं। पाणिनि भाषाके लौकिक और वैदिक दो भेद करते हैं। पतञ्जलिके समयमें लोग समझते थे कि वेद अनादि-नित्य है। पतञ्जलिने इस समझका अपनी दृष्टिसे अर्थ बतलाया है। वे कहते हैं कि वेदोंका अर्थ नित्य है, परन्तु वेदोंके शब्द अनित्य हैं। तात्पर्य यह कि वेदानुयायी लोगोंमें रूढ़ हुए विधि-निषेध, यज्ञ-विधि और दूसरे कर्म काण्ड, यह तो वेदोंका अर्थ है और वैदिक-परम्परा बतलानेवाले वैदिक शब्द भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न-भिन्न स्वरूपमें प्रकट होते हैं। पुरोहितोंके इन शब्दोंमें फर्क़ पड़ता रहता है परन्तु परम्परा नहीं बदलती। पतंजलिके कथनका यही आशय जान पड़ता है।

---

* आर्षं सिद्धदर्शनं धर्मेभ्यः (वैशेषिक सूत्र ९–२–१३)

परम्परासे चले आये हुए वैदिक मन्त्र और विधि निषेधोंका परिचय देनेवाले वाक्य (ब्राह्मण-ग्रन्थ) वेद हैं। याज्ञिक पुरोहितोंने यह विश्वास जमानेका प्रारम्भ किया कि यह वेद-रूप शब्द-राशि ही अनादि-नित्य है। लोगोंको परम्पराके आदि-कारणकी याद नहीं रहती। कारण, परम्परा अति-प्राचीन-कालसे धीरे धीरे उत्पन्न होती और बढ़ती रहती है। बहुधा लोग नहीं जानते कि हमारे देशके अधिकाश धार्मिक रीति-रिवाजों और विश्वासोंके आदि-प्रणेता कौन हैं, इसलिए परम्पराका कर्तृत्व वे किसी न किसी अलौकिक कारणको सौंप देते हैं। वेदोंकी बात भी ऐसी ही है।

वैदिक आचार्योंने वेदोंके प्रामाण्यकी स्थापना तीन तरहसे की है। कुछ आचार्य कहते हैं कि ऋषियोंको दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई और उन्होंने वेद निर्माण किये। नैयायिक, शैव और वैष्णव कहते हैं कि ईश्वरके प्रसादसे वेद या धर्मज्ञान मनुष्यको प्राप्त हुआ। पूर्वोत्तरमीमांसकोंका कथन है कि वेदोंको देव या मनुष्य किसीने नहीं बनाया, वे अपौरुषेय और अनादिप्रवृत्त हैं।

यह प्रश्न बहुत महत्त्वका है कि वैदिक आचार्योंने वेदोंका अलौकिक प्रामाण्य क्यों स्थापित किया? इस खुली हुई बातके समर्थनके लिए कि वेद मनुष्योंने बनाये हैं, इतना अधिक घटाटोप करनेकी जरूरत नहीं थी। तब मनुष्य खुद अपने ही कर्तृत्वपर पानी फेरनेको क्यों तैयार हो गया और इतनी खुली हुई बातको इतनी गूढ़ क्यों कर डाली, इसका उत्तर बहुत ही सुगम है और वह सामाजिक परिस्थितिकी मीमांसामें मिलता है। वैदिक त्रैवर्णिक आर्योंके धार्मिक रीति-रिवाजों और सामाजिक नियमोंका मूल वेदोंमें है। वैदिक पुरोहित-वर्गकी अर्थात् ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता और शूद्रोंकी दासता जिसका मुख्य लक्षण है, ऐसी समाज-संस्थामें स्थिरता लानेके लिए वेदोंको अलौकिक प्रामाण्यकी पदवीपर पहुँचाया गया। समाज-संस्थाका प्राण उसके नियमों, रीति-रिवाजों, आचारों, कर्म-काण्डों और विचार-पद्धतिकी स्थिरतापर ही अवलम्बित था। उनकी पूर्णता और अबाध्यता स्थापित करनेके लिए आर्योंने उन्हें वेदमूलक ठहराया और वेदोंको अनादि-नित्यत्व और स्वतःप्रामाण्य अर्पण किया।

जैमिनीने पूर्व-मीमांसाके प्रारम्भमें धर्म-प्रमाणका निर्णय किया है। उन्होंने पहले कहा कि प्रत्यक्ष और अनुमान ये धर्म-प्रमाण नहीं हैं, फिर कहा कि

वेद-रूप उपदेश ही धर्मका स्वतः सिद्ध इतरनिरपेक्ष प्रमाण है और ब्रह्मसूत्रकार बादरायणका भी यही मत है[1]। स्मृतियाँ तक वेदानुवादक हैं और इसलिए वे धर्म-निर्णयकी साधन हैं। वैदिक लोगोंके रीति-रिवाज तक वेद-मूलक होनेसे प्रमाण है, ऐसा मीमांसक मानते हैं।

शबर, कुमारिल और शंकरकी प्रमाणोपपत्ति

शबरस्वामी और कुमारिल भट्टने जैमिनीय सूत्रोंकी विस्तारके साथ टीका की है। ऐतिहासिकोंका अनुमान है कि जैमिनीय सूत्र ई० पूर्व पहली शताब्दिके लगभग बने होंगे। शबर स्वामीका काल चौथी और कुमारिल भट्टका सातवीं शताब्दी माना जाता है।

इन आचार्योंके मतसे मनुष्य-बुद्धिद्वारा अगम्य ऐसे कार्य-कारण-भाव कहनेके लिए वेद प्रवृत्त हुए हैं। उन्हें डर था कि यदि हम यह मान लेंगे कि मानव-बुद्धि गम्य तत्त्व ही वेद कहते हैं तो वैदिक-संस्थाका उन्मूलन हो जायगा। कुमारिल भट्ट कहते हैं (तंत्रवार्तिक १।१।३) कि मनुष्य बुद्धिको एक बार भी यदि वेदमें स्थान दिया, तो नास्तिक विचारोंका प्राबल्य होकर वैदिक मार्ग नष्ट हो जायगा। ऐसा न हो, इसलिए वेदोंका विषय अदृष्ट ही मानना चाहिए। कुमारिल और शंकराचार्यके पहले ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, अदृष्ट इत्यादि धर्मकी मूलभूत कल्पनाओंका युक्तिवादसे समर्थन करनेवाले बहुतसे आचार्य थे। परन्तु ये तत्त्व मानव-बुद्धि-गम्य नहीं हैं, इस बातको कुमारिल और शंकराचार्यने ही बुद्धिवादके व्यापक और सूक्ष्म तत्त्वोंके आधारसे सिद्ध किया। उन्होंने इस मुद्देपर बहुत अधिक जोर दिया कि ये तत्त्व वेद-गम्य ही हैं। या तो ये तत्त्व मनुष्यकी केवल कल्पनाओंके आभास या खेल हैं अथवा ये मनुष्य-बुद्धि-गम्य नहीं हैं; इनमेंसे कोई एक पक्ष स्वीकार करना पड़ेगा। अतएव परम्परागत धर्म-संस्थाकी स्थिरताके लिए और अपने मान्य अध्यात्मवादके समर्थनके लिए दूसरा पक्ष ही कुमारिल और शंकराचार्यने स्वीकार किया और उन तत्त्वोंको केवल वेद-गम्यत्व ही अर्पण

(१) औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबंधस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे, तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। —जैमिनीसूत्र १। १। ५।

किया। यहाँ हमें यह न भूल जाना चाहिए कि वेदको मानव-कृत मान लेनेपर उक्त तत्त्व निराधार ही ठहर जाते हैं।

अवैदिकोंकी धर्म-प्रमाण-विषयक कल्पना

भारतवर्षमें अवैदिक धर्म-सम्प्रदाय भी मौजूद हैं जो वैदिक-परम्परा जितने ही प्राचीन हैं। इस अवैदिक-परम्परामें ही शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदाय उत्पन्न हुए हैं। शैव और वैष्णव मानते हैं कि प्रत्यक्ष ईश्वर ही धर्मोपदेश करता है और बौद्ध तथा जैनोंके अनुसार धर्म उच्चतम, शुद्ध और पूर्ण परिणत मानव-बुद्धिसे ही अवगत होता है। कुमारिल भट्टने अपने श्लोकवार्तिकमें* सिद्ध किया है कि शैव-वैष्णवोंका ईश्वर और बौद्ध-जैनोंका परिणत-प्रज्ञ सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता।

धर्ममें परिव्रज्याको स्थान देनेवाले वेद-विरोधी बौद्ध-जैनोंने वेदको मनुष्यकी रचना ठहराया और इससे भी आगे बढ़कर कहा कि वेद काम-क्रोधादि विकारोंसे ग्रस्त हीन-मनकी रचना है। इसलिए वेद धर्म-प्रमाण नहीं हो सकते। धर्म-अधर्मके निर्णय करनेका साधन वीतराग अन्तःकरण है। राग अर्थात् काम-क्रोधादि विकार। ये विकाररूपी मल जिन्होंने धो डाले हैं, उनके अन्तःकरण ही धर्म-निर्णयके साधन हैं। ध्यान धारणामें निमग्न रहनेवाला, वीतराग और उसके कारण योग-शक्तिके लाभसे सर्वज्ञ बना हुआ मन धर्मका मार्ग बतलाता है। ऐसे ही मनको 'जिन' अथवा 'बुद्ध' पद मिलता है। मनुष्यका प्राकृत मन ही प्रयत्न करनेसे इस उच्च परिणति तक पहुँचता है।

इस विचार-सरणिका खंडन मीमांसकोंने किया है। वे कहते हैं कि वीतराग-स्थिति और सर्वज्ञता ये दोनों बातें मनुष्यके मनको प्राप्त ही नहीं हो सकतीं। विकार मनका अबाधित स्वभाव-धर्म है और मन और इंद्रियोंकी ज्ञान-विषयक स्वाभाविक मर्यादाको ध्यानमें रक्खा जाय, तो सर्वज्ञता अशक्य है।

इस तरह प्राचीन भारतीयोंकी वैदिक और अवैदिक धर्म-परम्पराकी धर्म-प्रमाण-विषयक विचार-सरणि बतलाई गई। गत १२०० वर्षोंमें हमारे धर्म-शास्त्रकारोंने जो कुछ कहा है उसका मुख्य आधार कुमारिल भट्ट और

---

* सर्वज्ञवन्निषेध्या नः कर्तुः सद्भावकल्पना।—श्लोकवार्तिक १।१।५। फ्वुरसामंजस्यात्—ब्रह्मसूत्र २।२।

शंकराचार्यके विचार ही हैं। इन आचार्योंने जैन-बौद्धादिपर आक्रमण करते हुए जिस बुद्धिवादकी कसौटीको अपनाया है, उसका उपयोग वेदकी प्रमाणताके विषयमें नहीं किया। इसी तरह जैन-बौद्धोंने वैदिक मार्गका खण्डन करते हुए जिस श्रेष्ठ तर्क-शास्त्रका उपयोग किया है, उसका उपयोग स्वपक्षके मंडनमें नहीं किया। यदि इन दोनों पक्षोंका बुद्धिवाद एकत्र किया जाय तो धर्म-संस्थाका आधारभूत अलौकिक प्रमाण ही नष्ट हो जाता है। फिर वह चाहे अपौरुषेय वेद, ईश्वर, योगी, अवतार, विभूति, प्रेषित (पैगम्बर), वीतराग मुनि आदि कोई भी क्यों न हो।

आधुनिक उपपत्तिकी आलोचना—तिलक और राधाकृष्णन्

गीता-रहस्यके कर्त्ता लो० तिलक आधुनिक भारतीय धर्म-मीमांसकोंमें अग्रणी हैं। उन्होंने धर्म-तत्त्वकी विवेचना बहुत व्यवस्थित, स्पष्ट और उपपत्तियुक्त की है। इसी तरह स्वामी दयानन्द, राजा राममोहनराय, विवेकानन्द, रामतीर्थ, केशवचन्द्र सेन, रानडे, भांडारकर, राधाकृष्णन् आदिने भी प्रगल्भ और सुन्दर धर्म-चर्चा की है। स्वामी दयानन्दजीके विचार हिन्दू धर्मका थोड़ा-सा सुधार करनेके लिए अत्यन्त उपयुक्त हैं परन्तु उनमें धर्म-तत्त्वोंकी बुद्धिवादी और मूलगामी सूक्ष्म परीक्षा नहीं है। विवेकानन्द, रामतीर्थ, रानडे, भांडारकर आदिके विचार मननीय हैं, परन्तु वे उनके भिन्न भिन्न व्याख्यानोंमें बिखरे हुए हैं। उनका उन्होंने विषय-क्रमसे सुसंगत ग्रन्थ-रूपमें गुम्फन नहीं किया है। प्रो० राधाकृष्णन् इस समय पाश्चात्य विद्यापीठोंमें प्रथित-यश दार्शनिक समझे जाते हैं। कल्पनाओंकी समृद्धि, भाषाका लालित्य, अलंकारिकता, वक्तृत्व, बहुश्रुतत्त्व, रहस्यवादी कवित्व आदि गुणोंसे उनकी रचनाएँ सुसज्जित हैं, परन्तु "History of Hindu Philosophy" को छोड़कर उनके शेष ग्रन्थोंकी रचना ढीलीढाली है। विचार-परिणतिकी ऐतिहासिक मीमांसा करनेकी पद्धतिसे परिचित होनेपर भी उसे उन्होंने हस्तगत नहीं किया है। जिन तत्त्वोंका प्रतिपादन करना है उन्हें क्रमशः सुव्यवस्थित संकररहित, तर्क-संगति-युक्त और सुव्यक्त पद्धतिसे वे उपस्थित नहीं कर सकते। "Eastern religions and Western thoughts" और "Hindu view of life" इन

दो ग्रन्थोंमें प्रो० राधाकृष्णन्के उक्त दोष बहुत स्पष्ट दिखलाई देते हैं। इसके विपरीत लो० तिलककी रचनामें उक्त सारे गुण हैं। लोकमान्यका 'गीता-रहस्य' भारतीयोंके धार्मिक विचारोंका श्रेष्ठ विद्या-स्थान है। यहाँ उसकी मध्यवर्त्ती कल्पनाकी जाँच की जायगी।

लोकमान्यके प्रतिपादनका सार यह है:—आत्मा और अनात्माके विवेकसे युक्त बुद्धि ही धर्म-निर्णयका साधन है। जो सर्व-व्यापी एकात्माको पहचानता है वह स्थिति-प्रज्ञ मनुष्य ही अपनी शुद्ध-बुद्धिसे धर्म-निर्णय करनेमें समर्थ होता है। आत्मौपम्य बुद्धि अथवा आत्मनात्मविवेक ही धर्म अधर्म और नीति अनीति ठहरानेकी कसौटी है। अपना ही आत्मा दूसरेमें है, ऐसा जिसका विश्वास है, वही यह निर्णय कर सकता है कि दूसरेके साथ कैसा वर्ताव करना चाहिए। स्थितप्रज्ञ यह समझकर वर्तता है कि अपने आपको जो इष्ट, हित और श्रेयस्कर है वही दूसरेको भी है। उसका वर्त्तन हमेशा 'सत्' होता है।

अब पहले यह देखना चाहिए कि आत्मा नामकी जो वस्तु है वह कैसी है और धर्माधर्मसे उसका क्या संबंध है। यह मान लेनेपर कि सबका आत्मा एक है यह भी मानना पड़ेगा कि सबके सबके प्रति कर्तव्य भी एकरूप हैं, कारण, लोकमान्य उस सर्व-व्यापी आत्माके साथ कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयका संबंध जोड़ते हैं। यह वेदोंका आत्मा चराचर पदार्थोंमें सर्वत्र समान, निर्विकार और सुख-दुःखातीत है। वह मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, कीट, पाषाण, तारकादि सजीव-निर्जीव सृष्टिमें एक-सा समाया हुआ है, ऐसा विश्वास हो गया, ज्ञात हो गया अथवा दिख गया, तो उसके योगसे पिता-माता, पति-पत्नी, पुत्र-कन्या, आर्य-शूद्र, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा, मतदाता प्रतिनिधि, अध्यक्ष-सभासद आदि विविध और विचित्र नातोंसे विविध और विचित्र कर्तव्यकर्तव्योंका निश्चय कैसे होगा? निर्विकार और अलिप्त आत्माका कर्म और कर्म-फलसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं बैठता। इसी तरह यदि मनुष्यमें जो आत्मा है वही पत्थरमें है, अथवा सोने, पत्थर और लोहेमें एक ही आत्मा है, ऐसा मालूम हो गया, तो उससे सोने, पत्थर और लोहे-सम्बन्धी मनुष्यके वर्तावमें पूर्वकी अपेक्षा क्या अन्तर पड़ेगा? और उस वर्तावका धर्म-अधर्मसे क्या सम्बन्ध है? प्रत्येक वस्तुकी विशिष्टता और विचित्रतापर उस वस्तुके विषयमें होनेवाली क्रियाका स्वरूप अवलम्बित रहता है। उसमेंके

सर्व-सामान्य एक जैसे तत्त्वके साथ उस क्रियाका सम्बन्ध नहीं रहता। भिन्न-भिन्न देश-काल-परिस्थितियोंमें और भिन्न-भिन्न सामाजिक संस्थाओंमें व्यक्तिके और समुदायके परस्परिक कर्त्तव्य भिन्न-भिन्न होते हैं। दिक्कालातीत आत्माके साथ उन कर्त्तव्योंका कुछ सम्बन्ध नहीं रहता।

इसपर कहा जा सकता है कि आत्मीयत्व और परकीयत्व इन दो भावनाओंके कारण कर्तव्याकर्तव्यमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है। कुटुम्ब, जाति, राष्ट्र, वर्ग आदि विषयक व्यापक अथवा संकुचित आत्मीयत्व-बुद्धिसे ही मनुष्य तद्विषयक कर्त्तव्य पूरे करता है। आत्म बुद्धि अथवा अहं-बुद्धि जितनी व्यापक होती है कर्त्तव्यकी श्रेष्ठता भी उसी हिसाबसे अधिक होती है। कुटुम्बविषयक कर्त्तव्योंकी अपेक्षा जाति-देशादिविषयक कर्तव्य अनुक्रमसे अधिक उच्च और उच्चतर माने जाते हैं। इसका उत्तर यह है कि इस आत्मीयत्वका अथवा आत्मत्वका या अहंकारका सुख-दुःखादि परिणामोंसे, इष्टानिष्टसे, जय-पराजयसे और लाभालाभसे सम्बन्ध रहता है। इस आत्मीयतामें अथवा अहंकारमें सविकारता रहती है। यह एक वृत्ति है। इसे अहंभाव कह सकते हैं। परन्तु यह अहंभाव गीताका या गीता-रहस्यका कूटस्थनित्य आत्मा नहीं है अथवा इस अहंभावका विषय ही यह आत्मा नहीं है। अहंभाव एक मनोवृत्ति है और उसके आलम्बन व्यक्ति, कुटुम्ब, वर्ग, राष्ट्र, समाज आदि इन्द्रिय-गोचर वस्तुएँ हैं। इस अहंभावका इतिहास है। इसमें बढ़ती और घटती होती है।

दूसरा आक्षेप यह है कि सामान्य नीति तत्त्वोंके साथ इस वेदान्तीय आत्म-वस्तुका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। कुहरा, समुद्र, वर्षा, मृत्पाषाण, सुवर्णादि धातु इत्यादि सुख-संवेदनारहित वस्तुओंमें भी यह निर्विकार आत्मा समाया हुआ है; परोपकार और अहिंसारूप सामान्य-नीति-धर्मका इस आत्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि इस आचरणका सम्बन्ध केवल सुख-दुःख-संवेदन-क्षम सृष्टितक ही पहुँचता है। सजीव और अजीव दोनों तरहकी सृष्टिमें व्याप्त आत्माको किसी तरहकी बाधा नहीं पहुँचती। उसकी दृष्टिसे उपकार और अपकार, हिंसा और अहिंसा ये सब बराबर हैं। पाप-पुण्यका सम्पर्क उससे नहीं है।

तीसरा आक्षेप यह है कि यज्ञ, पूजा, व्रत, यात्रा, जप, होम, भजन आदि क्रियाओंसे इस आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। साधककी अपेक्षा उच्च शक्तिकी

आराधना ही क्रियाओंका स्वरूप है। सर्वात्म-बुद्धि प्राप्त हुई कि आराधना समाप्त हो जाती है। कारण, आराध्यसे मैं भिन्न हूँ, यह भेद-बुद्धि ही आराधनाका अधिष्ठान है।

चौथा आक्षेप यह है कि उस आत्म-तत्त्वका अस्तित्व कैसे सिद्ध किया जाय, शब्द-प्रमाणसे या बुद्धि-वादसे? जिसको श्रद्धा होगी वह शब्द-प्रमाण मानेगा, पर जिसे नहीं है उसे तो बुद्धि वादसे ही उत्तर देना होगा। ऐसा युक्तिवाद मिलता नहीं जिससे कूटस्थनित्य आत्म-वस्तु अथवा ईश्वर आदि गहन तत्त्व सिद्ध हो जायँ। इस बातको बादरायण, कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य जैसे आत्मवादी तत्त्व-ज्ञानियोंने स्पष्टतासे माना है। "तर्काप्रतिष्ठानात्" इस ब्रह्म-सूत्रमें, बृहदारण्यक-भाष्यकी प्रस्तावनामें और "तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इस उपनिषद्-वाक्यकी चर्चामें शंकराचार्यने इस मुद्देको अच्छी तरहसे उपपादित किया है।

पाँचवाँ आक्षेप यह है कि गीतामें स्थित-प्रज्ञकी जो स्थिति बतलाई है वह गीता-रहस्यका गाभा है। परन्तु वैसी स्थिति संभव है, यह बात शब्द-प्रामाण्य या रहस्यवादका आश्रय लिये बिना नहीं मानी जा सकती। मनकी विकार-रहित स्थिति कभी हो ही नहीं सकती। निद्रा और मूर्च्छा ये विकार ही हैं। उपदेश वासना-जन्य होता है। सत्यका उपदेश करनेवाला स्थित-प्रज्ञ वासनाके बिना उपदेश कैसे कर सकेगा? इससे यह बात अपने आप सिद्ध हो जाती है कि गीता-रहस्य गीताके शब्द-प्रामाण्यपर ही आधारित है, बुद्धि-वादपर नहीं।

छठा आक्षेप यह है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय करनेके लिए सामाजिक परिस्थिति और कर्म-विषयक कार्य कारण-भावके ज्ञानकी आवश्यकता है। वैराग्यसे उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। वैराग्य होनेपर भी ऐसा नहीं है कि ज्ञान होगा ही, और न होनेपर भी वह हो सकता है। इसके विपरीत किसी भी समाजके अथवा वर्गके कर्तृत्ववान् और विधि-निषेध बतलानेवाले पुरुष भावनाओं और आकांक्षाओंसे सम्पन्न तथा पूर्ण विकारयुक्त ही होते हैं। कृष्ण, बुद्ध, मुहम्मद, ईसा, शंकर, आदि व्यक्ति तो उच्चतर विकार-विचारोंकी सुन्दर मूर्ति ही थे।

लोकमान्य तिलककी विचार-सरणिके बाद अब प्रो० राधाकृष्णन्की विचार-

सरणिकी परीक्षा की जाय। उन्होंने अपने 'पौर्वात्य-धर्म और पाश्चात्य-विचार' नामक ग्रन्थमें धर्मसम्बन्धी अनेक गूढ़ और गम्भीर विचार लिखे हैं। उनके लिखनेका ढंग बहुत शिथिल है, इसलिए उसमें बड़ी गड़बड़ी है। उन्हें धर्मके विषयमें शब्द-प्रमाण, विशिष्ट सम्प्रदाय अथवा विशिष्ट परम्परा पूरी तरह मान्य नहीं है, परन्तु जगत्के सारे धर्म-संस्थापक और साधु-संत सामान्यतः मान्य हैं। गूढ़ अध्यात्म-वाद अथवा गूढ़ानुभव-वाद (रहस्यवाद) उनकी विचार-सरणिका पाया है[१]। वे जगत्के धार्मिक विचारोंमें और अनुभवोंमें जो विसंगति है, उसकी उपपत्ति न बिठाकर उस विसंगतिको गौण ठहराते हैं।[२] वे यह भी कहते हैं कि समाज-विषयक और विश्व-विषयक विज्ञानों और बुद्धिवादके साथ धर्मका अविरोध है। प्रसंग आनेपर वे सभी धर्मोंको महत्त्व देते हैं और कितनी ही बार हिन्दू-धर्मको सर्व श्रेष्ठ ठहराते हैं। कहीं कहीं यह भी कहते हैं कि पुरानी धर्म-संस्थाएँ, अभीतककी सारी धर्म-संस्थाएँ, जीर्ण हो गई हैं, इसलिए उनका परित्याग करके नये गूढ़ाध्यात्मवाद (Mysticism) को अपनाना चाहिए। यही नया विश्व-धर्म है। वे यह भी कहते हैं कि नये शास्त्र और नया आलोचनात्मक बुद्धिवाद अत्यन्त प्रभावशाली हो गया है, इसलिए उनको स्वीकार करना चाहिए। उन्हें पुराने धर्म-ग्रन्थ अच्छे लगते हैं, आधुनिक बुद्धिवाद आकर्षित करता है, वैज्ञानिक विचार-सरणिसे उनको प्रेम है, आध्यात्मिक अस्पष्ट, गूढ़ कल्पनाओंमें वे रम जाते हैं, आर्थिक पुनर्रचना करनेवाले समाजवादपर भी वे खुश होते हैं और ऐहिक भौतिक जीवनको क्षुद्र समझनेवाले पूँजीवादी अथवा दूसरी वर्ग-दास्यमूलक समाज-रचना माननेवाले परलोक-परायण अध्यात्मवादका भी वे गाढ़ आलिंगन करते हैं। इस विसंगत, अव्यवस्थित, चंचल और अललटप्पू विचार-प्रवृत्तिकी आलोचना करना बहुत ही कठिन काम है। प्रो० राधाकृष्णन्के लेखोंमें सद्गुण इतना ही है कि वे उदारता और मिठाससे लबालब भरे हैं और उनकी विसंगतियोंमें भी एक प्रकारकी गहन वनके समान शोभा है।

---

(१) Eastern religion and Western thought pp. 82–84 by Prof. Radhakrishnan

(२) Ibid preface VIII–IX

(३) Ibid p. 294.

दिग्दर्शनके लिए यहाँ उनके एक ही विधानकी समीक्षा की जाती है। वे कहते हैं—“ हिन्दू धर्म बुद्धिवादकी सहायतासे ही धर्म वस्तुकी परीक्षा करता है। उसमें मनुष्य-जीवनकी घटनाओंका विज्ञान दृष्टिसे अभ्यास करनेका प्रयत्न रहता है। ये घटनायें आध्यात्मिक अज्ञानकी निद्रामें गहरे सोये हुए लोगोंके बाह्य जयापजयकी नहीं, किन्तु जीवनमें अत्यन्त गहरी छुपी हुई घटनायें ’ हैं।” ‘ आध्यात्मिक अज्ञानकी निद्रा ’ और ‘ गहरी छुपी हुई घटनायें ’ इन शब्दोंने विज्ञान और बुद्धिवाद शब्दोंके प्रसिद्ध अर्थ बदल डाले हैं। इसका यह अर्थ होता है कि परलोकविषयक परमात्मदर्शी संवेदना ही सच्ची बुद्धि (Reason) और विज्ञान-दृष्टि (Scientific Spirit) है। कारण, दूसरी तरफ उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि “ गूढ़ परमार्थदर्शन और परलोकपरायणवृत्ति (Other worldliness) ही धर्मका मुख्य प्राण है। यह जगत् सिर्फ ऊपरी, गौण और क्षुद्र सत्य है। परलोक और परमात्मा ही परम सत्य हैं। इस सत्यकी खोज ही बुद्धिवाद और विज्ञान-दृष्टिका ध्येय है। इन्द्रियगोचर विश्वकी और ऐहिक जीवनकी खोज करने और बोध लेनेवाला बुद्धिवाद और विज्ञान उक्त दृष्टिकोणसे क्षुद्र और गौण ठहरता है।” इसका तात्पर्य यह कि विज्ञान और बुद्धिवादकी अपेक्षा गूढ़ आध्यात्मिक अनुभव और भावना ही श्रेष्ठ है और यही प्रो० राधाकृष्णन्का मत है। परन्तु कहना पड़ता है कि इसे खुलकर प्रतिपादन करनेका धैर्य और साहस उनमें नहीं है जब कि पाश्चात्य विद्वान् विलियम जेम्सने इस प्रकारका धैर्य दिखलाया है।

पाश्चात्योंकी धर्म-प्रमाणविषयक चर्चा; जेम्सका दिव्यानुभववाद और फायर बाखका मानव्यवाद

इधर पाश्चात्य देशोंमें बहुत-से धर्म-मीमांसक हुए हैं। उनमेंसे दो प्रख्यात पंडितोंके विचार लिखकर यह विषय समाप्त किया जायगा। विलियम जेम्स (William James) ने अपने ‘ धर्मानुभवोंकी विचित्रता ’ (The Varieties of religious experience) नामक ग्रन्थमें पौर्वात्यों और पाश्चात्योंके अर्वाचीन और प्राचीन धार्मिक विचार उद्धृत करके उनका परिशीलन किया है। उन्होंने प्राचीन भारतीयोंकी आध्यात्मिक विचार-सरणिका ही आधुनिक वेषमें विवरण किया है। संघटित धर्म-संस्थाकी अपेक्षा उस संस्थाके और उससे बाहरके

मनुष्योंके निजी (Private) धार्मिक अनुभवोंको और भावनाओंको जेम्सने महत्त्व दिया है। वे धर्मके दो भाग करते हैं, पहला—संघटित धर्म (Institutional Religion) और दूसरा—वैयक्तिक अनुभव-निष्ठ-धर्म (Religion of experience)। उन्होंने जो कुछ कहा है उसका सार यह है[1]—(१) मानवीय अनुभव दो प्रकारके हैं; लौकिक और अलौकिक। लौकिक अनुभवका आलम्बन दृश्य बाह्य विश्व है और अलौकिक या गूढ़ अनुभवोंका आलम्बन इस बाह्यके उस तरफका भीतरी विश्व है। धार्मिक अनुभव अथवा भावनाएँ जंगली स्थितिसे लेकर सुधरी हुई स्थिति तकके अनन्त मनुष्योंमें दिखलाई देता हैं। इन अनुभवोंमें और भावनाओंमें विचित्रता और विविधता है। यह विचित्रता और विविधता दो कारणोंसे आती है। एक अनुभव करनेवाले मनकी प्राकृत अथवा सुसंस्कृत परिस्थितियोंकी तरतमतासे और दूसरे उस अन्तर्यामी अनन्त विश्वका जो विविध और विचित्र आविर्भाव होता है उसके कारण। (२) यह अन्तर्यामी विश्व बाह्य विश्वकी अपेक्षा अधिक विशाल, चिरन्तन, मंगल, कल्याणमय और सत्य है। इस बाह्य विश्वके फेरफारोंमें कारणीभूत जो चैतन्य शक्ति है उसका अनन्त, अगाध संचय ही वह है। उसीको देव, ब्रह्म और विश्वका सही कायदा (Law) कहते हैं। (३) उस महान् विश्व-ब्रह्मके साथ इस अल्प जगत्का और जीवनका संवादित्व और मिलन करना ही अपना परम ध्येय या निःश्रेयस् है। (४) उसकी भक्तिसे और ऐक्यात्म्यानुभूतिसे उसमेंकी चैतन्य-शक्ति प्रसन्न होकर उछलती है, उच्चतर मानसिक सुखका प्रसव करती है और इस जगत्में भौतिक इष्टकामसिद्धितक कर देती है। (५) एसी स्थितिमें विलक्षण धैर्य और उत्साह उत्पन्न होता है, जीवनमें संगीत गूँजने लगता है और जादू भर जाता है। अलौकिक पराक्रमकी स्फूर्ति होती है, प्रेमसे भरी हुई दृष्टि अपने आसपासके जगतको मृदुता, ऋजुता और आर्द्रता देती है, अभयका आश्वासन मिलता है और मन चिर-शान्ति और शाश्वत-समाधिमें मग्न हो जाता है।

जेम्सका उपर्युक्त धर्म-प्रवचन सुननेमें बड़ा मीठा है। उपर्युक्त विधानोंके

1 The Varieties of religious experience, pp. 28–29, 485, 486.

समर्थनके लिए उन्होंने एक नवीन युक्तिवादकी रचना की है। विज्ञान और बुद्धिवादका आश्रय लेकर धर्मपर आक्षेप करनेवालोंका इस नये युक्तिवादसे खण्डन किया है। यह युक्तिवाद एक तरहका फलवाद अथवा प्रयोजनवाद (Pragmatism) है।

किसी भी अनुभव अथवा ज्ञानको सत्य सिद्ध करनेकी जो अनेक उपपत्तियाँ प्रसिद्ध हैं, उनमें फलवाद भी एक उपपत्ति है। कोई भी अनुभव किंवा ज्ञान सत्य है, इसका अर्थ है कि वह कार्यक्षम है और फलजनक है। परिणामसे, फलसे, कार्यक्षमतासे ज्ञानकी सत्यता सिद्ध होती है। व्यवहार्यता, उपयुक्तता अथवा समाधानकारकता ही सत्यताकी कसौटी है। मृगजलका ज्ञान मिथ्या क्यों है, कारण, हमें उसके अनुसार चलनेसे फल नहीं मिलता।

इस फलवादका आधार लेकर जेम्स तार्किकों और भौतिकवादियोंका खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि हमारे जीवनके लिए भौतिकवादकी कल्पना उपयुक्त है या अध्यात्मवादकी, इसका उत्तर अपनी भावनाओंकी जाँच करनेसे मिल जाता है। भौतिकवादके अनुसार यह दृश्य जगत् जड़-शक्तिस उत्पन्न हुआ है, और वह उसी शक्तिके संग्राममें कभी न कभी नष्ट हो जानेवाला है। इसी तरह, देह-विनाशके बाद सारे ही वैयक्तिक अनुभव समाप्त हो जाते हैं। इस विचार-सरणिको सत्य माननेसे हमारी शाश्वत आनन्दकी आकांक्षा और हमारे चिरन्तन ध्येय ढह जाते हैं और निःश्रेयसकी आशा स्वप्नवत् लुप्त हो जाती है। इसके विपरीत अध्यात्मवाद (Spiritualism or Idealism) को ठीक माननेसे यह आश्वासन जीवको मिलता है कि सबकी चिन्ता रखनेवाला द्रष्टा ईश्वर स्वर्गमें बैठा है। उसकी कृपासे श्रेयस् शेष रहेगा और शाश्वत कल्याण होगा, इस लिए अध्यात्मवाद अधिक फलदायी अतएव सत्य है।

जेम्सकी यह सत्यकी व्याख्या अपूर्ण और सदोष है। परन्तु, इसको समझानेका यह स्थल नहीं है। यदि ऐसा मान लिया जायगा कि झूठी और थोथी कल्पना विशिष्ट परिस्थितिमें उपयोगी होती है, इसलिए वह सत्य है, तब तो फिर पागलोंके अस्पतालमें डाक्टर मानसिक रोगीको जो मीठे भुलावे दिया करता है उन्हें भी सच मानना पड़ेगा। सारी मनुष्य-जातिको रोगी और सारे समाजको रोगियोंका अस्पताल मान कर धार्मिक मिथ्या

कल्पनाओंके द्वारा मानसोपचार करनेकी इच्छा रखनेवाले इस धर्मोपदेशक डाक्टरसे हमें कह देना पड़ेगा कि पहले आप अपने भ्रान्ति रोगको ही दूर कीजिए और मानव-जातिको उसके उपद्रवसे बचाइए।

दूसरे प्रसिद्ध पंडित फायरबाखकी धर्म मीमांसामें पाश्चात्यों और पौर्वात्योंकी सारी आधुनिक धर्मोपपत्तियोंकी समीक्षा एकत्रित है। उसमें काण्ट, हेगेल, काम्टे, श्लीरमाखर (Shleiermacher) जेम्स, जॉन ड्यूई (Dewy) आदि पंडितोंकी मूलभूत कल्पनाओंकी भी चर्चा है।

सामाजिक मानस-शास्त्र (Group psychology) और मानव-जातिशास्त्र (Anthropology)के धर्म-संशोधनसे वह प्रमाणित (Vindicated) हुई है। उसने 'क्रिश्चियन धर्मका रहस्य' (Essence of Christianity) नामक ग्रन्थमें जो धर्मोपपत्ति दी है उसका तात्पर्य यह है:—

(१) संसारकी प्रचलित धर्म-कल्पनाएँ मनुष्यको किसी भी अलौकिक दिव्य-विभूतिसे प्राप्त नहीं हुई। वे मनुष्यके मनकी ही गढ़ी हुई हैं। मनुष्यके मनकी स्वाभाविक भावनाने (Emotions or feelings) और आकांक्षाओंने बुद्धिके द्वारा उन्हें गढ़ा है। अपरिमित, अनिर्बन्ध और न शमन होनेवाली भावना और अतृप्त रही हुई सुप्त और प्रकट वासना ही धर्म-सम्बन्धी अवास्तव कल्पनाओंको जन्म देती है। वासना और भावना बीजशक्ति है और कल्पना आविष्कार है। यही धर्म-वस्तुकी मुख्य कारण-सामग्री है।

मनुष्य विज्ञान और तत्त्वज्ञानकी सहायतासे भावना और वासनाकी वास्तविक पूर्ति कर सकता है। जब तक उनकी पूर्ति करनेमें समर्थ विज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता अथवा अपूर्ण रहता है, तब तक प्रच्छन्न और प्रकट भावनाओं और वासनाओंसे बद्ध मन विपर्यस्त और भ्रान्तिमय अनुभवों, कल्पनाओं और विचारोंको निर्माण करता रहता है। इस भौतिक विश्वके और उसमेंके मनुष्य-पिण्डके वास्तविक नियमोंका अज्ञान होनेके कारण जिस स्थितिमें अपना उद्दिष्ट सिद्ध करनेकी कूवत नहीं होती, उस समय परिस्थितिपर सत्ता चलानेकी थोथी महत्त्वाकांक्षाके कारण अन्तःकरण आभासमय विश्वका निर्माण करता है और इस झूठे, मायावी और कल्पित विश्वसे सम्बन्ध रखनेका प्रयत्न ही धर्म है।

(१) From Hegel to Marx, p. 235. by Sidney Hook.

(२) वास्तविक जगत्‌की अपेक्षा धार्मिक जगत्‌में अद्भुत चमत्कार-कारिणी, भौतिक नियमोंको कुंठित और बाधित करनेवाली और भौतिक विश्वपर सवारी गाँठनेवाली जादूमय शक्तियोंका संचय रहता है और वह इस जगत्‌की अपेक्षा अधिक विशाल और प्रभावशाली होता है। क्योंकि वह संकल्प मात्रसे निर्माण हो जानेवाला होता है। संकल्प और कल्पनामें चाहे जो अघटित घटित हो सकता है। कवि-कल्पनाओंसे क्या कुछ कम चमत्कार निर्माण हुए हैं? इस वास्तविक जगत्‌में जो इष्ट मालूम होते हैं, परन्तु जितने चाहिए उतने मिलते नहीं; वही उस कल्पनामय जगत्‌में मिल जाते हैं। अमरत्व, शाश्वत शान्ति, नित्यानन्द (Eaternal Happiness) और अनन्त सद्‌गुण (Virtues) वहाँ रहते हैं। सुधरे हुए मानवको इन्हीं ध्येयोंकी तालावेली लगी रहती है और उस तालावलीके मारे ही मन जान बूझकर या अनजानमें ही उन्हें निर्माण कर लेता है। धर्म-संस्थापकोंने समझ रक्खा है कि जो नहीं है, परन्तु चाहिए, वह होता ही है। काण्ट तककी धर्म-मीमांसा इसी चमत्कारी ढंगकी है। वह कहता है—"अनन्त सद्‌गुणोंकी (Virtues) और अमर्याद आनन्दकी (Happiness) मनुष्यको स्थायी आवश्यकता मालूम होती है और वह प्राप्य होगी, ऐसा नैतिक विश्वास रहता है। सद्‌गुण और आनन्द अनन्त और अमर्याद हैं। इसलिए उनको भोगनेवाला जीवात्मा अमर होना चाहिए। अमर्यादित गुणों और आनन्दकी पूर्णता जिसमें हुई है वह मूलभूत वस्तु (The highest original good) होनी चाहिए और वह वस्तु ही ईश्वर है।" इस स्थापनाका दोष स्पष्ट है। इस कथनको ठीक माननेसे, जो चाहिए वह, होता ही है, ऐसा माननेकी पाली आवेगी।

(३) धर्ममें मनुष्यका ध्येयवाद विपर्यस्त रीतिसे प्रतिबिम्बित हुआ रहता है। ध्येयवादमें मनुष्यके स्वभावका निष्कर्ष उतरा हुआ होता है। अपूर्ण शक्तियों और गुणोंमें पूर्णता लानेका और मानवी जीवनकी सामुदायिक और वैयक्तिक व्यावहारिक कमियाँ भर डालनेका प्रयत्न उस ध्येयवादमें समाया रहता है। यह ध्येयवाद ही भ्रान्तिग्रस्त मनमें देववाद (Theology) बनजाता है। सुधरे हुए धर्मका,

(१) Introduction to Kant's Philosophy 279-82 by Clark (२) Ibid p. 244.

विशेषकर क्रिश्चियन धर्मका, ईश्वर मानवी सद्गुणोंकी उत्कृष्ट मूर्ति है। ज्ञान, कला, नीति, मांगल्य, सौन्दर्यका अतिशयोक्तिसे कल्पित किया हुआ समुच्चय कहीं न कहीं दूसरी जगह है, इस तरहकी कल्पना ही ईश्वरकी कल्पना है। उपनिषदोंका ब्रह्म भी और क्या है? ज्ञान आनन्द और सत्यकी पूर्णता ही ब्रह्म है। क्रिश्चियन परमेश्वर प्रेमकी और कारुण्यकी मूर्ति और पितृत्वकी परम सीमा है। अनन्त ज्ञान, आनन्द, मांगल्य, कर्तृत्व, कारुण्य, पितृत्व, मातृत्व, नेतृत्व आदि मानवी विशेषणोंको ही एकत्र करके ईश्वर बनाया गया है।

(४) धर्मका अलौकिक और दिव्य स्वरूप वस्तुस्थितिके विपर्याससे निर्माण हुआ है। भोले और पागल मनका वह काव्य-मय पागलपन है, सत्य नियमोंके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ भ्रम है, दिवास्वप्न अथवा जागते हुएका स्वप्न है। यह भ्रम अथवा स्वप्न केवल शून्य अथवा अभावपर आधारित नहीं है, हमेशाके स्वप्नोंका मनन करनेसे यही दीख पड़ेगा। स्वप्न इसी वास्तविक पृथ्वीके सत्य अनुभवोंके विकृत और विसंगत रूपान्तर होते हैं। सच्ची वस्तुओंमें ही उलट-पलट और गड्डमगड्ड होकर स्वप्न बन जाते हैं। धर्म स्वप्न भी ऐसे ही हैं। अलौकिक, दिव्य अथवा पारलौकिक वस्तुओंका पूरी सावधानीसे पृथक्करण और परीक्षण किया जाय, तो मालूम होगा कि अलौकिक लौकिकके, दिव्य भौतिकके और पारलौकिक इहलोकके ही जाने या बिना जाने, गफलतसे, विपर्याससे निर्मित किये हुए मानसिक चित्र हैं।

(५) धार्मिक विपर्यासके पेटमें मनुष्य मनुष्यका जो मीठा और श्रेयस्कर सम्बन्ध छिपा हुआ है, वही सच्चा धर्म है, वही सच्चा ध्येय है। ध्येयके लिए वैयक्तिक जीवनको तृणवत् समझकर यत्न करनेवाले लोग ही सच्चे धार्मिक हैं, फिर ध्येय कोई भी क्यों न हो। इस भौतिक पिण्डकी परवा न करके विश्वके अर्थात् मानव मानवके सम्बन्ध प्रेमके और अत्यन्त हार्दिक हों, इसके लिए देहको न्यौछावर करनेवाले पुरुष ही धार्मिक हैं। प्रेम ही सच्चा धर्म है। धर्मको स्वर्गसे भूलोकपर लाना ही तत्त्वज्ञानका उद्देश्य होना चाहिए। जॉन डयूईने भी यही कहा है।

---

(१) Ibid p. 246

(६) विज्ञान (Science) और तत्त्वज्ञान (Philosophy) के आश्रयसे मनुष्य-जातिका जीवन यशस्वी और दैन्यहीन बनाना ही सच्चा ध्येय है। इस ध्येयको फायरबाख वैज्ञानिक मानव्यवाद (Scientific humanism) कहता है। धर्ममें बस इतना ही तथ्य है कि धर्मने मानव-जीवनको उदात्त बनानेका प्रयत्न किया है। बाकी सब जाल है। इस धार्मिक जालसे मनुष्यका प्रत्यक्ष जीवित अधोगतिको पहुँच गया है। धर्मकी मनुष्यको स्वर्ग-मोक्ष-सम्बन्धी कल्पनाओंके बदले ऐहिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियोंमें प्रत्यक्ष सुधार करनेवाले तत्त्व-ज्ञानकी जरूरत है। ईश्वरके अस्तित्व अनस्तित्वके प्रश्नकी अपेक्षा मनुष्य जातिके अस्तित्व नास्तित्वके प्रश्नका चिन्तन अधिक श्रेयस्कर है। आत्मा अमर अथवा स्वतंत्र है कि नहीं, इस चर्चाकी अपेक्षा सच्चा और महत्त्वका प्रश्न यह है कि मनुष्य जातिका यह अल्प-जीवन सह्य और सार्थ कैसे बनाया जाय ? मरणके बाद क्या और कैसा होगा, इसकी अपेक्षा मरणके पहले क्या होगा और कैसा होगा, इसकी चिन्ता मनुष्य-जातिके लिए अधिक जरूरी है। पूजासे और श्राद्धसे देव और पितर तृप्त होते हैं या नहीं, उन्हें अन्न और पानी पहुँचता है या नहीं; इस विचारकी अपेक्षा सारे मनुष्योंको अन्न, पानी, वस्त्र, पात्र, गृह, औषध और शिक्षा अच्छी तरहसे कैसे मिले और जनताके दुःख-दारिद्र्यका प्रश्न कैसे हल हो, यह विचार महत्त्वका है। परलोकके न्यायकी अपेक्षा और परमेश्वर-विषयक कर्त्तव्यकी अपेक्षा इहलोकके न्यायको और मानव-समाज-विषयक कर्त्तव्यको मुख्य स्थान देना चाहिए।

फायरबाख पूरा भौतिकवादी है। जीवका आत्माका या अन्तःकरणका देहके अतिरिक्त स्वतंत्र अस्तित्व वह नहीं मानता। सारी मनुष्य-जातिका संसार सुखी और सोज्ज्वल होकर उसके समस्त सद्गुणोंकी बाढ़ हो, मानव-जाति प्रेमसे आनन्दसे रहे और सामाजिक वर्ग-दासताका अन्त हो, इस ध्येयका उसने समर्थन किया है। मानव-वाद (Humanism) का परिष्कार (Comprehensive statement with examination) करके जगत्के तत्त्वज्ञानमें उसने उच्च कल्पनाकी अभिवृद्धि की है। परन्तु उसकी विचार-सरणिमें एक बड़ा भारी दोष रह गया है। वह कहता है कि जिसमें अलौकिक किंवा पारलौकिक कल्पनाओंका सम्बन्ध न हो, ऐसे सच्चे मानव पूजक धर्म-

(१) From Hegel to Marx. pp. 222-223.

की प्रस्थापना करनी चाहिए। परन्तु अलौकिक (Supernatural) शक्तिकी कल्पना जिसमें न हो, उस संस्थाको धर्म कैसे कहा जायगा ? यह कहना वैसा ही है जैसे इतिहासको सच्चा उपन्यास, रसायन-शास्त्रको सच्चा जादू-टोना, विद्या-पीठको सच्ची मसजिद, सच्चा चर्च अथवा सच्चा मन्दिर और संसारको सच्चा नाटक कहना। शब्दोंको खींचकर अति व्यापक अर्थ करनेसे बड़ी गड़बड़ मच जाती है और अवसर-वादियोंको मौका मिल जाता है।

ध्येय ही देव नहीं है

मराठीके सुप्रसिद्ध लेखक वामन मल्हार जोशीने भी ध्येय और देवसम्बन्धी इसी तरहका थोड़ा-सा गोटाला किया है। ध्येय ही देव है। उस ध्येयकी प्राप्तिका मार्ग देव-पूजा है और वही सदाचरण है। 'नीतिशास्त्र-प्रवेश' के परिशिष्टमें उन्होंने यही प्रतिपादन किया है। देव मनुष्यका और सृष्टिका कर्त्ता माना जाता है। उसका अस्तित्व मनुष्यके अस्तित्वके पहले ही माना जाता है, परन्तु ध्येय ऐसा नहीं होता। वह है मनुष्यद्वारा कल्पित साध्य। वह मनुष्यके और जगत्के अस्तित्वका कारण नहीं होता। ध्येय और देवमें यही फर्क है। ध्येयरूप अथवा आदर्श माने हुए गुण या शक्ति देवमें आरोपित की जाती है, यह सच है; परन्तु देव स्वतंत्र और स्वयंसिद्ध रूपमें कल्पित की गई वस्तु है। ध्येय वैसा नहीं होता। वह साध्य होता है, सिद्ध नहीं। देव पहलेसे ही स्वतःसिद्ध होता है। मनुष्य जाति जब ध्येयोंको समझने लगती है, तभी देवकी जगह ध्येय आते हैं। ध्येय देव नहीं हैं। देवके बदले ध्येय आते हैं। जान ड्यूईने प्रो० जोशी जैसी ही कल्पना की है। (Intelligence in the modern world philosophy page 1036–37)

तीसरा व्याख्यान

हिन्दू धर्मका स्वरूप

तीन पक्ष—ऐहिक, पारमार्थिक और उभय-वाद

जिससे ऐहिक मानवी-व्यवहारकी व्यवस्था, लोक-यात्रा अथवा समाज-धारणा सिद्ध हो, ऐसा नियम-समुच्चय अथवा कायदा (Law) ही हिन्दू-धर्मका वास्तविक स्वरूप है। ऐसा माननेवाला एक पक्ष इस समय मौजूद है। महाभारतके समयमें भी था। यह पक्ष कहता है कि चातुर्वर्ण्य, देश जाति-कुल-धर्म, आश्रम-व्यवस्था आदि मुख्य नीति-धर्म, व्यवहार-धर्म और राज-धर्मकी ही हिन्दू-धर्ममें प्रधानता है। क्यों कि प्रजा-धारणा ही हिन्दू-धर्मका साध्य है। अलौकिक (Supernatural) दैवी, आध्यात्मिक शक्तियोंकी आराधना और पारलौकिक कल्पना हिन्दू-धर्मका मुख्य भाग नहीं है, वह गौण है। इस पक्षके कुछ लोग यह भी प्रतिपादन करते हैं कि ईश्वर, परलोक, पाप-पुण्य, अवतार, विभूति, योग-शक्ति, देवता आदि पदार्थ केवल सांकेतिक कल्पनाओंसे बने हैं। सामान्य लोग समाजके कायदोंका योग्य-रीतिसे पालन करें, इसलिए इन संकेतोंकी कल्पना की गई है। क्यों कि परलोकका भय और प्रलोभन लोगोंको कायदा पालन करनेमें प्रवृत्त करता है।

दूसरा पक्ष कहता है कि इह और पर अथवा प्रपंच और परमार्थ साधनेका मार्ग ही हिन्दू धर्मका स्वरूप है। इस जन्ममें योगक्षेम चलता रहे और मरणोत्तर स्थितिमें श्रेयस् प्राप्त हो, इस उद्देश्यसे ही श्रुति, स्मृति, पुराण हिन्दू धर्मका प्रतिपादन करते हैं। इसी दृष्टिसे चतुर्विध पुरुषार्थ अथवा त्रिवर्गका उपदेश महाभारत और स्मृतियोंमें दिया गया है। स्मृतियोंके धर्म-शास्त्रका हेतु साधकको अभ्युदय और निःश्रेयस अथवा उभय-लोकका कल्याण प्राप्त करा देना है। उदाहरणार्थ गृहस्थ-धर्मके आचरणसे कुटुम्ब-धारणा भी होती है और चित्त-शुद्धि होकर स्वर्ग-मोक्षका मार्ग भी सुगम होता है।

तीसरे पक्षका कथन है कि हिन्दू धर्म पूर्ण आध्यात्मिक धर्म है। आत्म-प्राप्ति, निर्वाण, मोक्ष, अथवा पारमार्थिक कल्याणके मुख्य उद्देश्यकी ओर ले जानेवाला मार्ग ही हिन्दू धर्मका स्वरूप है। अर्थ, काम, शरीर-संरक्षण, समाज-धारणा आदि ऐहिक ध्येय हिन्दू धर्मके गौण उद्देश्य हैं। वे बद्ध, मूढ़, अप्रगल्भ और बाल-बुद्धि मन्द अधिकारियोंके लिए हैं। वस्तुतः जीव मोक्षमार्गका ही प्रवासी है। यह जन्म और ऐहिक जीवन बीचकी काम चलाऊ ठहरनेकी जगह अथवा सराय है। मोक्ष-मार्गको अचूक दिखाना ही हिन्दू धर्मका कार्य है। यदि दृष्टान्त देकर समझाना हो, तो कहना होगा कि संसार-निद्राकी समाप्ति हो जाय और आत्म-दर्शनकी जागृति हो, अथवा संसार-रात्रि बीत जाय और ब्रह्म-प्राप्तिका दिन उगे, यही हिन्दू धर्मका साध्य है। वेदान्ती, शैव, वैष्णव, भागवत आदि सम्प्रदाय और आधुनिक अध्यात्मवादी हिन्दू पंडित इसी पक्षका समर्थन करते हैं।

ऐहिकवादी पक्षकी परीक्षा

उक्त तीन पक्षोंमेंसे पहला पक्ष असमर्थनीय है। दूसरे दो पक्ष ही आजतक रूढ़ हुए हिन्दू धर्मके वास्तविक स्वरूपका कम-ज्यादा प्रमाणमें वर्णन करते हैं। जिस पद्धतिसे और जिस अर्थसे पहला पक्ष यह सिद्ध करता है कि हिन्दू धर्म समाजधारणात्मक ही है, वह पद्धति और वह अर्थ ग़लत है। अत्यन्त प्राचीन कालसे लेकर अब तकके हिन्दुओंके आचारमें और विचारमें इस पद्धतिका और इस अर्थका धर्म कभी व्यवहारमें नहीं आया। कुछ अपवादोंको छोड़कर हिन्दू धर्मके प्रवर्त्तक, उपदेशक, ग्रन्थ और गुरु उक्त पक्षके विरुद्ध जानेवाली कल्पनाओंका और तत्त्वोंका ही प्रतिपादन करते हैं। वेदोंका यज्ञ अथवा कर्म-काण्ड एक तरहसे देवताओंकी आराधना या साधना ही है। उपनिषद् तो ब्रह्म, आत्मा, परलोक-मार्ग, अमरत्व, स्वर्गापवर्ग और अदृष्ट कर्म-फलका ही उपदेश देते हैं। स्मृतियाँ अथवा धर्म-शास्त्र वैदिक अध्यात्म-वादके अनुसंधानसे वर्णाश्रम धर्मका और आचार व्यवहार प्रायश्चित्तोंका आदेश देते हैं, और उसी दृष्टिसे पुराणोंमें और आगमोंमें व्रत, यात्रा, उपासनाओंके विधान किये जाते हैं। इतना जरूर सच है कि पारलौकिक अथवा अध्यात्मिक भावनाओंके आवरणके नीचे या अवगुण्ठनके भीतर सामाजिक भौतिक जीवनके स्वरूप और नियम छुपे हुए हैं। अदृष्ट दैवी-

कल्पना केवल धर्म-संस्थापकोंका संकेत नहीं बल्कि उन धर्मसंस्थापकों और धर्माचार्योंके मतसे सत्य कल्पना है।

इस पक्षके कुछ नेता कहते हैं कि वैदिक धर्म, विशेषतः ऋग्वेदका धर्म, ऐहिकता प्रधान है, इसलिए अब उसीको समर्थन करनेका अवसर आ गया है। बल, वीर्य, पराक्रम, विजय, शत्रु-नाश, कीर्ति, कवित्व, विद्वत्ता, मानसिक आरोग्य, दीर्घायुष्य, आनन्द, पर्जन्य, पशु, शस्य, सुवर्णादि धन, भार्या, पुत्र आदि ऐहिक साध्योंकी प्रार्थनाओं और कामनाओंसे वैदिक साहित्य भरा हुआ है। उसके देवता भौतिक शक्तियाँ ही हैं। वैदिक धर्म भौतिक-वादी धर्म है। हिन्दू समाजको अब आगे भौतिक प्रगति करनेकी प्रेरणा वेदोंसे ही मिलेगी। वेद अभ्युदयके मार्गदर्शक हैं और वेदान्त निःश्रेयसका मार्गदर्शक है। इस समयकी पराभूत और अवनत स्थितिसे बाहर निकलनेके लिए हिन्दू समाजको अदृष्टवादी निवृत्त-मार्गी और भक्ति-पंथी स्मृति-पुराणोंका और सन्तोंका हिन्दू धर्म फेंक देना चाहिए और हजारों वर्ष पिछड़े हुए वैदिक धर्मकी पुनःस्थापना करनी चाहिए। स्मार्त और पौराण धर्ममें सुधार करो और वेदोंकी ओर फिर लौटो (Back to Vedas), ऐसा सन्देश सारे हिन्दुओंको देनेका समय आगया है।

इस विचार-सरणिमें दोष है। ऐहिक-ध्येय-परक धर्म पारलौकिक धर्मकी अपेक्षा हीन संस्कृतिका और प्राकृत सामाजिक स्थितिका है। इस समयका मानव-जाति-शास्त्र कहता है कि ऐहिक ध्येयवादी धर्म प्राथमिक स्थितिके समाजमें रहता है जब कि पारलौकिक और पारमार्थिक तत्त्वोंकी कल्पनाओंपर अधिष्ठित धर्म उसकी अपेक्षा अधिक सुधरे हुए समाजमें ही उत्पन्न हुए हैं। इस बातको अधिक सुलभ रीतिसे यों कहा जा सकता है—

ऐहिक ध्येयवादी धर्मोंमें यह कल्पना रहती है कि मनुष्यके सदाके ऐहिक व्यवहारमें दैवी शक्तियोंका हाथ रहता है। उन शक्तियोंकी सहायता और कृपासे ही इष्ट फल प्राप्त होते हैं और उनके कोपसे ही संकट और अनिष्ट फल मिलते हैं। ऐहिक व्यवहारोंपर अलौकिक चमत्कार करनेवाली लहरी शक्तियोंका ही शासन है, ऐसी कल्पनापर यह धर्म खड़ा किया हुआ होता है। सृष्टिके यान्त्रिक पद्धतिसे चलनेवाले भौतिक कार्य-कारण-भावके अबाधित नियम धर्मको मालूम नहीं रहते। दृष्टवादी और ऐहिक समाज-धारणावादी वैज्ञानिक

(Scientific) विचार जिन्हें चाहिए, उनकी दृष्टिसे वेदोंका मार्ग खालिस धोखेका है—नहीं, बिल्कुल उलटा है। वेदोंने वैभव और अभ्युदयके लिए जो प्रार्थनाएँ की हैं वे किसके निकट की हैं? देवताओंके निकट और वे देवता भौतिक शक्ति नहीं किन्तु उन शक्तियोंमें भ्रान्तिसे आरोपित किये हुए चेतन ज्ञाता और विकारशील व्यक्ति हैं। भौतिक शक्ति प्रार्थना नहीं सुनती और इससे वह प्रसन्न भी नहीं होती। वृक्षसे प्रार्थना की जाय तो क्या वह फल देगा? क्या प्रार्थनासे एंजिन या यन्त्र चलने लगेंगे? यही हाल निसर्ग-शक्तिका है। वैदिक धर्ममें अभ्युदयकारक कर्म हैं, मन्त्र-पठन, होम और जाप। वैदिक लोगोंका विश्वास था कि ये कर्म अदृष्टके जरिये अथवा देवताके प्रसादसे ही इष्ट ऐहिक फल देते हैं। जादू, टोना, मानता, मंत्र-तंत्र, फल-ज्योतिष, आदि भी केवल ऐहिक इष्ट-फलके लिए ही मनुष्यने निर्माण किये हैं। उनपरकी श्रद्धा और वेदोक्त कर्म-काण्डपरकी श्रद्धा एक ही तरह की है। वेदोक्त अभ्युदय-मार्गकी श्रद्धा पिछड़े हुए नीचे दर्जेके लोगोंकी प्राकृत भोली बुद्धिका लक्षण है। क्यों कि उसकी कार्य-कारण-भावसम्बन्धी कल्पना भौतिक जगत्के वास्तविक कार्य-कारण-भावके पूर्ण अज्ञानसे जन्मी है। संक्रामक रोगोंके निवारण करनेके लिए शीतला माताकी और मरी माताकी आराधनामें भी वही वैदिक कल्पना है। इस वैदिक धर्मकी अपेक्षा परलोक-प्रधान पारमार्थिक धर्म ही अधिक विकासका चिह्न है। क्योंकि ऐहिक उलट-फेरों या घटनाओंमें दैविक कार्य-कारण-भावोंकी अपेक्षा भौतिक कार्य-कारण-भावोंको वह धर्म प्रधानता देता है। धर्मसे चित्त शुद्ध होकर अदृष्टद्वारा पारलौकिक श्रेयस् अथवा मोक्ष मिलता है और ऐहिक फलके लिए कृषि, शिल्प, वाणिज्य, युद्ध, राज्य-व्यवहार आदि कर्म करने चाहिए और नीति-नियम भी पालने चाहिए, ऐसी दृष्टि इस पारलौकिक धर्ममें रहती है। वैदिक यज्ञ-धर्मकी अवनति होनेके बाद ही भारतीय-समाजमें दर्शन और विद्या उत्पन्न हुई। वैदिक युगके अन्तमें उपनिषदोंकी उत्पत्ति हुई। उन्होंने वैदिक कल्पनाओंमें क्रान्ति कर दी, वेदोंका अन्त किया और आगे बौद्धिक प्रगतिका मार्ग तैयार किया।

इह और पर, उभय प्रयोजनोंसे हिन्दू-धर्मकी रचना हुई है, ऐसा माननेवाला

उभयवादियोंका समालोचन

दूसरा पक्ष ही हिन्दू धर्मके वास्तविक स्वरूपका आकलन करता है। हिन्दू धर्म-शास्त्रोंमें कुछ साधन अदृष्टार्थ, कुछ दृष्टार्थ और कुछ उभयार्थ बताये हैं। दृष्ट यानी प्रत्यक्ष और अर्थ यानी फल या प्रयोजन। (१) दृष्टार्थ उस साधनको कहते हैं जिसके फल प्रत्यक्ष समझमें आते हैं। कृषि, शिल्प, वाणिज्य, युद्ध, राज-व्यवहार आदि कर्म दृष्टार्थ हैं। शास्त्र इन कर्मोंकी व्यवस्था बतलाते हैं। उस व्यवस्थाके तोड़नेवालेको अदृष्ट अहित प्राप्त होता है। (२) जिन साधनोंसे अप्रत्यक्ष फल-सिद्धि प्राप्त होती है, वे साधन अदृष्टार्थ हैं। यहाँ मनुष्य साध्य और साधनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष और अनुमानसे अर्थात् स्वबुद्धिसे नहीं समझता। केवल शब्द-प्रमाणसे ही समझता है। उदाहरणार्थ देव-पितृ-यज्ञ, पूजन, भजन, व्रत, जप आदि कर्म अदृष्टार्थ हैं। इन कर्मोंसे जो ऐहिक और पारमार्थिक फल प्राप्त होते हैं, उनका और कर्मोंका सम्बन्ध शब्द-प्रमाणसे ही प्रतीत होता है।[1] वर्षा, पुत्र, रोग-निवारण, शत्रु-नाश, उच्च-कुलमें जन्म, स्वर्ग आदि फल उक्त कर्मोंसे प्राप्त होते हैं, यह शब्द-प्रमाणपर श्रद्धा रखनेवाले मनुष्यको ही ठीक मालूम होता है। इस अदृष्ट कार्य-कारण-भावकी विचार-सरणिमें पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, देव-असुर, ईश्वर, मोक्ष, आत्मा, पुनर्जन्म आदि कल्पनाओंका अन्तर्भाव होता है। धार्मिक शब्द-प्रमाणका अथवा श्रद्धाका यही विषय है। (३) जिस कर्मका साध्य-साधनभाव दृष्ट और अदृष्ट दोनों तरहका है; वह है उभयार्थ। उदाहरणार्थ विवाह-धर्म, रति और सन्तान यह विवाहका दृष्ट प्रयोजन है और देव-पितृ-लोक-प्राप्ति और पितृ-ऋण-मुक्ति ये अदृष्ट फल हैं। साध्य और साधनका अदृष्ट सम्बन्ध ही पाप-पुण्य अथवा ईश्वरका अनुग्रह या कोप है।

कुछ आधुनिक धर्म-समर्थक पाप-पुण्यकी बुद्धिवादी उपपत्ति इस तरह बतलाते हैं:—जिस आचरणसे व्यक्तिका, अथवा वह व्यक्ति जिस समुदायका घटक है उस समुदायका हित होता है, ऐसा दीर्घकालीन जीवनका हिसाब निकालनेसे निश्चित किया जा सकता है, उस प्रकारका आचरण पुण्यकारक है। गहराईसे विचार करनेसे

(१) श्रेयः साधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते। श्लो० वा० १।१।३.

और विविध परिस्थितियोंका अभ्यास करनेसे ही इस प्रकारका हिसाब निकाला जा सकता है। अनध्ययनशील और संकुचित बुद्धिके लोग समीपके ही इष्ट और अनिष्टोंकी आजमाइश कर सकते हैं, इसलिए मननशील और अध्ययनशील साधुओंने ही शास्त्र लिखे हैं। प्राकृत संकुचित बुद्धिवालोंकी समझमें न आनेवाले साधन ही अदृष्टार्थ साधन हैं। तात्कालिक सुख देनेवाले कर्म दूर तक विचार करनेसे बहुधा परिणाममें अनिष्टकारक होते हैं। उन्हें ही शास्त्रकार पाप-कर्म बतलाते हैं।

परोपकार, सत्य, अहिंसा, आदि नैतिक नियम, पुण्यके और परमार्थके मूल हैं। आश्रम-व्यवस्था, इंद्रिय-संयम आदिका शास्त्रोंने उपदेश दिया है। महाभारतमें कहा है कि आत्मौपम्य दृष्टिसे जो सबके साथ व्यवहार करता है उसे मरणोत्तर शाश्वत सुख प्राप्त होता है। सारी स्मृतियाँ कहती हैं कि हिंसासे, परधन-हरणसे और पर-दारा-गमनसे मनुष्य पतित होता है। यदि हम सारे जीवनका पर्यालोचन करें, तो ऐसा दिखेगा कि उक्त विधि-निषेधोंका पालन करनेसे अनन्त व्यक्तियोंका और समूचे समाजका हित होता है और वैसा आचरण न करनेसे व्यक्ति और समाजको दुर्गति भोगनी पड़ती है। इन्द्रिय-संयम न रखनेवाले लोग अल्पायु अथवा तीव्र और दीर्घ रोगोंसे ग्रस्त होते हैं। यह बात व्यापक अनुभवसे सिद्ध होती है, इसीलिए पाप और पुण्यका स्वरूप शास्त्र-प्रामाण्यके बिना भी मनन और अनुभवसे समझा जा सकता है और ऐसा समझनेवाले सज्जनोंने ही धर्म-शास्त्र रचे हैं।

यह मत सर्वथा ग्राह्य नहीं है; अंशतः ही ठीक है। समाजके जानकार और प्रधान व्यक्तियोंने ही धर्म-ग्रन्थ और धर्म-पन्थ निर्माण किये हैं, यह बात बहुत अंशोंमें सही है, परन्तु इस मतने जो अदृष्टका अर्थ किया है वह ठीक नहीं है। पुण्यसे उच्च-कुलमें जन्म अथवा मृत्युके अनन्तर स्वर्ग प्राप्त होता है और पापसे हीन-जन्म या नरक प्राप्त होता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इस शास्त्रोक्त विधानके पाप-पुण्य मनुष्यने अपनी बुद्धिसे विद्यमान् तर्कशास्त्रके नियम लागू करके निश्चित किये हैं। मंत्र, जप, होम, यज्ञ, देवताका अभिषेक, मूर्ति-पूजा आदि क्रियाओंका पुण्यरूप परिणाम मृत्युके बाद अथवा इसी जन्ममें फलीभूत होगा, यह बात बुद्धिवादसे निश्चित नहीं की जा सकती। देवता, ग्रह,

राक्षस, मंत्र-सामर्थ्य आदि अलौकिक शक्तियोंको मानकर ही शास्त्रमें अनेक विधियाँ बतलाई गई हैं। ऐसा न माननेसे शास्त्रोक्त विधि-निषेधोंका बहुत बड़ा भाग व्यर्थ और प्रमत्त-प्रलाप ठहरता है। सचमुच ही ऐसे व्यक्तियोंने धर्म-मार्ग प्रवृत्त किये हैं जिन्हें उपर्युक्त अदृष्ट-शक्तियोंके विषयमें भोला विश्वास था। यह बात खुले दिलसे स्वीकार कर लेनेपर ही भावी समाज-धारणा साधी जा सकती है।

हिन्दू-धर्म-शास्त्रोंका अधिकांश भाग परलोकसम्बन्धी भ्रान्तिमें पड़े हुए व्यक्तियोंने ही लिखा है; इतना ही नहीं विशिष्ट वर्गके स्वार्थ साधन करनेवाले सत्ता-धारियोंका भी उनमें हाथ रहा है। त्रैवर्णिक आर्योंकी गुलामगीरीमें शूद्रोंको डाले रखनेकी इच्छावाले व्यक्तियोंने धर्म-शास्त्र लिखे। शूद्रोंको दासतामें रखना, त्रैवार्णिकोंकी सत्ता बढ़ाना और पुरोहित-वर्गकी श्रेष्ठता कायम रखना, इन तीन तत्त्वोंपर खड़ी की गई समाज-रचनाके ही ये धर्म-शास्त्र हैं।

अध्यात्मवादी पक्षकी परीक्षा

हिन्दू-धर्मकी अध्यात्म-परायणताका वर्णन करनेवाला तीसरा पक्ष हिन्दू धर्मकी ही परिणतिका एक स्वरूप है। यद्यपि हिन्दू धर्मके वास्तविक स्वरूपका सम्पूर्ण समावेश इस पक्षमें नहीं होता, फिर भी इतना जरूर सच है कि यह हिन्दू-धर्मकी एक मुख्य बाजू है। आजकल हिन्दुओंके बहुजन-समाजके मनपर और शिक्षित बहुमतपर इसी पक्षकी छाप है।

इस पक्षकी गूढ़ और पारलौकिक कल्पनाओंका निराकरण करना इस समयका सबसे बड़ा सामाजिक कर्त्तव्य है। इसके विना हिन्दूसमाजकी विद्यमान वास्तविक परिस्थितिका अर्थात् भौतिक और मानसिक जीवनके समीक्षण करनेके मार्गका अन्तराय दूर न होगा। स्वर्गकी समीक्षासे भू-लोककी समीक्षा और धर्मकी समीक्षासे न्यायकी, हक़की अथवा अधिकारकी समीक्षा निर्माण होती है। क्योंकि इस आध्यात्मिक, पारलौकिक परिस्थितिके आभासके नीचे वास्तविक जीवनकी दुर्गति छिपी रहती है। इस आभासके कारण मनुष्यने आपको और

---

(१) Hegelian philosophy of Right, an Essay by Karl Marx.

अपनी जातिको बहुत ठगा है। इस आभासमें तरल और स्वच्छन्द प्रतिभा भावुक और मोहक रंगोंसे दिव्य-जीवनके और पारलौकिक या अलौकिक शक्तियोंके चमत्कृति-पूर्ण चित्र रंगकर वस्तु-स्थितिके गंदे और अमंगल स्वरूप ढँक देती है। गम्भीर परन्तु पोले सत्य-शून्य तत्त्व-ज्ञानकी पार्श्व-भूमिमें उस आभासके रंग-मन्दिर खड़े किये होते हैं। इस आभासका निरास हुए बिना दीर्घकालीन सामाजिक दुर्गतिका प्रतिकार करनेवाली विचार-सरणि प्रभावशाली नहीं होती और करणी सफल नहीं होती। परलोकवाद और अध्यात्मवाद भारतीय समाजके अनन्त दुःखी जीवोंके आँसुओंको ढँक रखनेवाला एक पर्दा है। अज्ञान, दासता और दीनताके गहरे गड्ढेमें कराहते पड़े हुए मनुष्योंके कंटकित और कठोर जीवनपर आच्छादन डालनेवाली यह कृत्रिम पुष्प-राशि है। यह बाणसे बिद्ध हुए चकोरकी भ्रान्तिमय चाँदनी हैं। कठोर और निर्दय परिस्थितिकी झुलसादेनेवाली अग्निको शमन करनेवाला मृग-जल है। मायामय ब्रह्मके निःश्रेयस और मोक्षका मोह नष्ट हुए बिना सत्य-सृष्टिका दास्य-मोक्ष और श्रेयसका मार्ग नहीं दिख सकता। अश्रु-रहित, व्यथा-रहित और अमृतमय काल्पनिक स्वर्गका मिथ्यात्व निश्चित हुए बिना दासता-रहित समाज-संस्थाका निरामय, कलामय, ज्ञानमय, उल्लसित दीर्घ-जीवनका सत्य विश्वकी ओर ले जानेवाला मार्ग मिलनेवाला नहीं।

इस तरह हिन्दू-धर्मके ध्येयात्मक स्वरूप-सम्बन्धी तीन पक्ष उपस्थित करके उनका संक्षेपमें समालोचन किया गया। अब हिन्दूधर्मकी व्याख्याका विचार किया जाता है।

हिन्दू धर्मके लक्षणपर विचार

आधुनिक हिन्दू पंडितोंके निकट मालूम होता है कि दूसरी किसी भी प्रसिद्ध धर्म-संस्थाकी अपेक्षा हिन्दूधर्ममें क्या विशेषता है, अर्थात् हिन्दू-धर्मका लक्षण क्या है, यह एक बहुत ही बिकट प्रश्न है। क्योंकि हिन्दू धर्म बहुरूपी और परस्परविरोधी प्रवृत्तियोंके सम्मिश्रणसे बना है। इस धर्मके दो बाजू हैं। विशिष्ट प्रकारके सामाजिक रीति-रिवाज अथवा समाज-रचनाके विशिष्ट कानून कायदे यह इसकी सबसे प्रधान बाजू है और परस्परविरोधी अनेक पारमार्थिक सम्प्रदाय दूसरी मुख्य बाजू है। क्रिश्चियन, मुसलमान आदि धर्म-संस्थाओंके लक्षण पारमार्थिक सम्प्रदायपरसे निश्चित

किये जाते हैं। लक्षण निश्चय करनेके समय उनका सामाजिक स्वरूप देखनेकी आवश्यकता नहीं रहती। प्रत्येक धर्म-संस्थाके बाह्य आवरणके नीचे विशिष्ट सामाजिक परिस्थिति और विशिष्ट कायदे ढँके हुए रहते हैं। हिन्दूधर्मका लक्षण निश्चित करते हुए यह सामाजिक भाग ही प्रमुखतासे आगे आता है। वर्ण-संस्था, जाति-संस्था, विशिष्ट-प्रकारके विवाहादि संस्कार, देश-जाति-कुल-धर्म, उतराधिकारके नियम, और सम्मिलित कुटुम्ब-पद्धति यह हिन्दू धर्मकी सामाजिक बाजू है। विशिष्ट समाज-व्यवस्थाके नियम अथवा कायदे ही हिन्दू धर्म हैं। यह विशिष्ट समाज-संस्था वर्णाश्रम-संस्था अथवा जाति-संस्था है। गत दो हजार वर्षोंके हिन्दूधर्मका जाति-धर्म ही प्रमुख लक्षण बन गया है। मनुष्य यदि इस विशिष्ट जाति-धर्मका पालन करता है तो वह ठीक हिन्दू समझा जाता है। हिन्दुओंके सामाजिक रीति-रिवाजोंकी पीठपर पारलौकिक, पारमार्थिक कल्पना रहती ही है। पुनर्जन्म और कर्मफलके सिद्धान्तकी यह महत्त्वपूर्ण अदृष्ट कल्पना सामाजिक रचनाके सारे नियमोंका समर्थन करनेके लिए धर्म-शास्त्रोंने उपयोगमें ली है। हिन्दू धर्मके पारमार्थिक अथवा आध्यात्मिक सम्प्रदाय अनेक परस्पर-विरुद्ध कल्पनाओंसे बने हैं। उन कल्पनाओंके बीच अविरोध उत्पन्न करनेका कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाय वह व्यर्थ ठहरता है।

लोकमान्य तिलकने हिन्दूधर्मका जो निम्नलिखित लक्षण किया है वह सन्तोषजनक नहीं है:—

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानामनेकता।
उपास्यानामनियमः एतद्धर्मस्य लक्षणम्॥[1]

यह लक्षण हिन्दू-धर्मकी एक बाजूका बहुत अच्छी तरहसे वर्णन करता है। इससे यह बात सहज ही खुल जाती है कि हिन्दू-धर्मकी कोई विधायक (Positive), व्यवस्थित, संगठित और सुसंगत पारमार्थिक नींव नहीं है। 'प्रामाण्यबुद्धि-र्वेदेषु' से यह सूचित होता है कि वेद सारे हिन्दुओंका प्रमाण-ग्रन्थ है, परन्तु ऐसे ७० प्रतिशत लोग हिन्दू-समाजमें हैं जिनको वेदाधिकार नहीं हैं और जिनके

---

(१) अर्थात् वेदोंको प्रमाण मानना, साधनाओंकी अनेकता और उपास्योंका अनियम, यह धर्मका लक्षण है।

रीति-रिवाज़ वैदिक-धर्माश्रित नहीं हैं । भला उनके लिए वेद प्रमाण-ग्रन्थ कैसे हो सकता है ? जिन लोगोंको वेद सुननेका भी अधिकार नहीं, बल्कि सुननेसे महापातक और नरकका अधिकारी बनना पड़ता है उन लोगोंकी वेदोंपर प्रामाण्य-बुद्धि या श्रद्धा है, ऐसा कहनेका कुछ अर्थ ही नहीं है। साधनाओंकी अनेकता और उपास्योंका अनियम यह व्याख्या ही नहीं हो सकती । प्रत्येक विशिष्ट सम्प्रदायके हिन्दूके यानी शैव, वैष्णव, स्मार्त, शाक्त आदिके विशिष्ट साधन और विशिष्ट उपास्य हैं ही । यह बात ठीक है कि सारे हिन्दुओंके एक तरहके साधन अथवा एक तरहके उपास्य नहीं हैं, परन्तु यह अभावात्मक लक्षण हिन्दूधर्मका सच्चा लक्षण नहीं । जब किसी पदार्थका अथवा पदार्थ-समुदायका लक्षण कहनेकी आवश्यकता होती है तब उस पदार्थके बाहर न मिलनेवाले परन्तु उस सारे पदार्थको व्याप्त करनेवाले उस पदार्थका भावरूप (Positive) स्वरूप कहना पड़ता है । 'उपास्यानामनियमः' और 'साधनानामनेकता' से इतना ही सिद्ध होता है कि सारे हिन्दुओंका हिन्दूधर्म एक विशिष्ट सर्व-साधारण धर्म नहीं है । हिन्दुओंके धर्म अनेक हैं और हिन्दुओंके धर्ममें एक-सूत्रता नहीं है ।

हिन्दुओंकी समाज-संस्थाका महत्त्व (Positive) का लक्षण जाति-व्यवस्था है । प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज आदि आधुनिक अपवादोंको यदि छोड़ दिया जाय, तो हिन्दुओंका बहुजन-समाज जाति-संस्थाको मानकर ही चलता है । आर्य-समाज और प्रार्थना-समाजमें भी जाति मानकर चलनेवाले बहुतसे लोग हैं । जैन धर्म जाति नहीं मानता है, तो भी जैनी जाति मानते हैं । हिन्दुस्तानके मुसलमानों और क्रिश्चियनों तकमें जाति माननेवालोंकी भारी संख्या है । हिन्दू समाजकी इस मुख्य संस्थाका असर उनमें भी बाकी रह गया है ।

हिन्दू धर्मका सामान्य लक्षण ठहरानेका प्रयत्न करके उसका संकलित रूप निश्चित करना अत्यन्त कठिन है । क्योंकि हिन्दू धर्म एक मर्यादित और व्यवस्थित स्वरूपकी सुसंगततासे प्रतिपादन करने जैसी नहीं, किन्तु विचित्रता और विरोधसे युक्त उलझनवाली रचना है । इसका अच्छी तरह खुलासा करनेके लिए भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंकी, विचित्रताओंकी और भेदोंकी जाँच करना आवश्यक है । किसी अव्यवस्थित स्वरूपके पदार्थका सामान्य लक्षण निश्चित

करनेका प्रयत्न करना तर्क-शास्त्रकी दृष्टिसे अधिक समर्थनीय नहीं होता। इसलिए हिन्दूधर्मके संकीर्ण और विविधतापूर्ण स्वरूपका पूरी तरहसे आकलन करनेके लिए उसकी रचनाके घटक-रूप विविध स्तरोंकी जाँच करना आवश्यक है।

हिन्दू धर्मके विविध स्तर

हिन्दूधर्म केवल पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक विचार-सरणिपर अधिष्ठित विशिष्ट प्रकारकी वस्तु नहीं है। वह विविध सामाजिक आचार-विचारोंकी गठरी या एक संग्रह है और उसमें परस्परविसदृश आध्यात्मिक और पारलौकिक कल्पनओंकी भरती है। हिन्दू समाज तरह तरहके सामाजिक रीति-रिवाजोंको केवल ऐहिक मूल्य ही नहीं देता है बल्कि उन्हें पारलौकिक अथवा अदृष्ट मूल्यका भी सहारा देता है। विवाहपद्धति, जाति-उपजातियोंके रीति-रिवाज, स्त्री-पुरुषोंके व्यवसाय, उत्तराधिकार, विधवाओंकी उपजीविका, खाने-पीनेके निर्बन्ध आदि सामाजिक रीतियोंका भी धार्मिक मूल्य है। जाति-संस्था हिन्दूधर्मका मुख्य लक्षण है, परन्तु उसका भी निश्चित विवरण करना कठिन है। जैसे अधिकांश जातियाँ ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता और ब्राह्मणोंकी पुरोहिताई मानती हैं; फिर भी कुछ जातियोंके पुरोहित स्वजातीय अथवा ब्राह्मणेतर होते हैं। मुसलमान और क्रिश्चियन धर्म निराले होनेपर भी बहुतसे हिन्दू क्रिश्चियन देवोंकी और मुसलमानी पीरोंकी उपासना करते हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि अक्सर देवतोपासनासम्बन्धी आचारकी अपेक्षा सामाजिक रीति-रिवाजोंको ही हिन्दू धर्ममें अधिक महत्त्व दिया जाता है। विविध और परस्परविरोधी सामाजिक और पारलौकिक कल्पनाओंसे बने हुए हिन्दू धर्मका पृथक्करण करना ऐतिहासिक तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे आवश्यक है। यह पृथक्करण करते हुए हिन्दूधर्मके स्वरूपमें उन्नत और अवनत बहुत प्रकारके स्तर मिलते हैं।

ऐतिहासिक तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे सारी धार्मिक कल्पनाओंको सामाजिक विकासमें एक-सा स्थान नहीं है। समाज-संस्था सामाजिक विकासकी जिस जिस ऊँच-नीच अवस्थामेंसे गुजरती है उस उस अवस्थाके अनुरूप ऊँच और नीच धार्मिक कल्पना भी वह गढ़ा करती है। वृक्ष पाषाण आदि मूर्त्त-वस्तुओंकी पूजा, प्रेत-पिशाच-पूजा, जारण-मारणादि क्रियाएँ, नरमेध यज्ञ

अथवा पशु-यज्ञ यह हीन-अवस्थाकी सामाजिक संस्थाका धर्म होता है। उसकी अपेक्षा उच्चतर अवस्थाकी अथवा विकासके उच्चतर सोपानकी समाज-संस्थाका धर्म अमूर्त एकेश्वरोपासना होता है। हिन्दू धर्मके शरीरमें ऐसे विविध-स्तरोंके संकलन दृष्टि-गत होते हैं। क्रिश्चियन, पारसी और मुसलमानोंके एकेश्वरोपासक धर्मोंमें भी मानव जातिकी पिछड़ी हुई स्थितिकी धर्म-कल्पनाओंके अवशेष बाकी हैं। परन्तु उन सब प्राचीनतर हीन अवशेषोंको इन ऐकेश्वरवादी धर्मोंने एकेश्वर-कल्पनाके द्वारा ढँककर निष्प्रभ कर दिया है। यद्यपि मानव-जातिकी हीन अवस्थाकी धार्मिक कल्पनाओंका समूल उच्छेद करनेके इरादेसे ही ये धर्म स्थापित हुए हैं, फिर भी इस विषयमें उन्हें पूरी सफलता नहीं मिल सकी है। इनमेंसे मुसलमान धर्म ही इस विषयमें अधिक यशस्वी हुआ है। हिन्दू धर्मको इस विषयमें जितना चाहिए उतना यश नहीं मिला, बल्कि अपयश ही मिला। इसके प्रमाणमें हिन्दू धर्मका विद्यमान् स्वरूप पेश किया जा सकता है। उसमें हीनसे हीन प्राचीन आचार और कल्पनाएँ बिल्कुल खुले सिर विचरण कर सकती हैं। कभी कभी तो उन्हें प्रमुख पूजा-स्थान भी प्राप्त हो जाता है। इतना ही नहीं, इन हीन अवशेषोंका उच्च तत्त्वज्ञानके युक्तिवादके सहारे समर्थन भी किया जाता है। अपरिहार्य रूपसे चिपटे रह गये इन हीन लक्षणोंका धीर गंभीर भावसे आत्म-वंचनापूर्वक समर्थन करनेकी प्रवृत्ति प्रगति-विरोधी पंडितोंमें अधिक रहती है और हिन्दू-समाजमें ऐसे पंडितोंकी कमी नहीं है। धर्म-विकासके जुदा जुदा पृष्ठभागोंमें धर्म-कल्पनाओंके सामान्यतः तीन स्तर मिलते हैं और फिर प्रत्येक स्तरमें उच्च-नीच अनेक अवान्तर स्तर हैं। परन्तु विवेचनके सुभीतेके लिए उनमेंसे तीन स्तरोंपर ध्यान देना चाहिए। (१) जादू, निसर्ग-वस्तु-पूजा, भूत-राक्षस-पूजा या पितृ-पूजा, (२) मानव-सदृश देवता-समूह-पूजा और शक्ति-पूजा, (३) एकेश्वरवाद, ब्रह्मवाद और तत्त्ववाद।

(१) (अ) संसारके प्रायः सारे जंगली अथवा पिछड़े हुए मानव-समूहमें जादू (Magic) प्राथमिक धर्मके रूपमें पाया जाता है। इस समयके सुधरे हुए पाश्चात्य और पौर्वात्य राष्ट्रोंके भी समाजके पिछड़े हुए स्तरोंमें थोड़ा बहुत जादू-टोना दिखलाई देता है। मनुष्यकी अत्यन्त अनाड़ी स्थितिमें इस जादू-टोनेका

अवतार होता है। सृष्टिके वास्तविक कार्य-कारण-भावका गाढ़ अज्ञान इसका आदि कारण है। जादू दो तरहका होता है, एक देवतावादके पूर्वका और दूसरा उसके बादका। हिन्दू धर्ममें दोनों तरहका यातु धर्म है। अथर्व-वेद और गृह्य सूत्रोंके धर्ममें यातु या जादूकी क्रियाका स्थान है। इतर तीन वेदोंमें भी जादू अथवा तत्सदृश क्रियाएँ कही गई हैं। कुछ यज्ञ जादू सरीखे ही हैं। कमसे कम उनमें जादूके अवशेष तो हैं ही। वर्षा, शत्रु-नाश, शस्य-समृद्धि, रोग-निवारण, गर्भ-धारण, सन्तान, पशु-लाभ आदि फलोंकी प्राप्तिके लिए यज्ञ और होम बतलाये गये हैं। अभिचार नामके यज्ञ, अथवा कर्म सब वेदोंमें कहे गये हैं। गर्भाधान, पुंसवन् आदि संस्कारोंके मूल स्वरूप एक प्रकारके जादू ही हैं। जादू यानी साधना। इष्ट-सिद्धिके लिए अथवा अनिष्ट-निवारणके लिए विशिष्ट वस्तु, विशिष्ट क्रिया अथवा विशिष्ट मंत्रोंका उनमें अद्‌भुत-शक्ति है, इस कल्पनासे विशिष्ट परिस्थितिमें उपयोग करना साधना है। पहले एक समय ऐसा था जब कि लोग वनस्पति, धातु या क्षार आदि भौतिक द्रव्योंके रोग-निवारक गुणोंको नहीं जानते थे—कार्य-कारण-भावसे अजान थे, तब वैद्यकीय क्रियाएँ तक जादू थीं। अथर्व वेद और गृह्य सूत्रोंके कई रोग-निवारक कर्म इसी तरहके हैं। जादूकी वनस्पतियाँ और मंत्र उनमें बतलाये गये हैं।

(आ) निसर्ग-वस्तु-पूजा हिन्दू धर्मकी दूसरी प्राथमिक स्थितिका अवशेष है। पाषाण, पर्वत, नदी, वृक्ष, पशु, पक्षी, तारे आदि निसर्गकी वस्तुओंमें कुछ चमत्कारिणी शक्ति है, इस विश्वाससे यह पूजा प्रारम्भ होती है। गंडकी नदीके काले शालिग्राम, नर्मदाके ताम्रवर्ण गोटे, अनेक छिद्रोंवाली लम्ब-गोल कोमल गांगोटी, पहाड़, गंगा, यमुना, कृष्णा, और सिन्धु आदि नदियाँ; ऊमर, पीपल, बड़, बेल, तुलसी, आँवला आदि वनस्पतियाँ; बैल, गाय, बन्दर, महिष, मछली कछुआ, बराह, सिंह, बाघ, घोड़ा, हाथी, नाग, गरुड, हंस, मयूर, आदि पशु-पक्षी; सूर्य, चन्द्र, मंगल आदि आकाशस्थ गोल; अग्नि, वायु, वर्षा आदि निसर्ग घटनायें; इन सबकी पूजा करनेकी पद्धति हिन्दू धर्ममें है। शालिग्राम नर्मदाके गोटे अथवा लम्ब-गोल गांगोटीकी पूजा, विष्णु, गणपति अथवा शिवके नाते अब भी चालू है। अर्थात् एकेश्वरी-भक्ति-सम्प्रदायमें उनका प्रतीकके रूपमें उपयोग होता है। परन्तु उक्त वस्तुएँ असलमें विष्णु, गणपति अथवा

शिव-स्वरूपसे पूज्य नहीं थीं। उनको स्वतन्त्र ही पूज्यत्व प्राप्त था। पीपल, बड़, आँवला आदि वृक्षोंकी पूजा तो अब भी मूल कल्पनासे ही की जाती है। यद्यपि पुराणोंने उन वस्तुओंका स्तोत्रोंमें विकसित धर्मोंके देवों विष्णु, शिव आदिसे सम्बन्ध जोड़ दिया है परन्तु उनका स्वतन्त्र पूज्यत्व अब भी टिक रहा है। नाग और गाय तो अब भी बिलकुल स्वतंत्र देव बने हुए हैं। मत्स्य, कच्छप, सिंह, बाघ, गरुड़, हंस, मयूर आदिकी पूजा यद्यपि नहीं की जाती, तो भी उनकी प्रतिकृतियोंकी पूजा रूढ़ है। सूर्य, चन्द्र, मंगल आदि नव-ग्रहोंकी आराधना और साधना तो विद्यमान् हिन्दू धर्मकी महत्त्वपूर्ण चीज है। पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे हिन्दू नेता तक गाय और तुलसीकी पूजाको हिन्दू धर्मका उदात्त लक्षण प्रतिपादित करते हैं। इस निसर्ग-वस्तु-पूजाका आरंभ प्राथमिक जंगली अवस्थामें कुल-लक्षण-पूजा (Totemism) अथवा देवक-पूजासे होता है। ब्राह्मणोंके घर विवाह और उपनय-संस्कारमें पहले देवक-स्थापना की जाती है। यह देवक (अविघ्न-कलश) कच्ची मिट्टीका (बर्तन) होता है, जो ब्राह्मणोंकी जंगली अवस्थाका अवशेष है। इस कुल-लक्षण-पूजावादका स्वरूप पहले व्याख्यानमें विवृत किया गया है। विशिष्ट जड़-वस्तु, विशिष्ट पशु, विशिष्ट पक्षी आदिमें कुछ न कुछ शुभाशुभकारक सामर्थ्य होता है, इस दृष्टिसे यह पूजा उत्पन्न होती है। कुछ वस्तुएँ शुभ-सूचक और कुछ वस्तुएँ अशुभ-सूचक हैं, यह कल्पना अज्ञानतामें ही उत्पन्न होती है। ऋग्वेद और अथर्व-वेदमें कल्पना है कि कौआ और कपोतका दर्शन मृत्यु-सूचक है। विशिष्ट पदार्थों या जातियोंके दर्शन या स्पर्शनसे पवित्रता होती है, स्मृतियोंमें इस कल्पनाकी मुख्यता दिखलाई देती है। जंगली लोगोंमें माना (Mana) और टाबू (Taboo) की जो कल्पना मिलती है, वही हिन्दू धर्ममें बाकी बच रही है। गाय, गो मूत्र, गोबर, ब्राह्मण, गंगोदक, सुवर्णादि धातु, पीपल, तुलसी आदिके स्पर्शसे पवित्रता प्राप्त होती है और शूद्र, अन्त्यज, रजस्वला, गर्दभ, काक, प्याज, लशुन, गाजर, बैंगन आदिके स्पर्शसे अपवित्रता आती है। स्मृतियोंकी यह कल्पना जंगली अवस्थाकी टाबू और माना कल्पनाओंका विस्तृत रूप है। स्मृतियोंके भक्ष्याभक्ष्य और स्पृश्यास्पृश्य-विवेकको बहुत कुछ इस मूर्खतापूर्ण विश्वासमें ही गिनना चाहिए।

हिन्दू धर्ममें कुछ निसर्ग वस्तुएँ अथवा उनकी प्रति-कृतियाँ पहलेसे ही पूजनीय हैं और कुछ उत्तरकालीन उदात्त-धर्मके संस्कारसे कुछ परिवर्तित होकर पूज्य हो गई हैं। जैसेः—गरुड़, बैल और बन्दर। गरुड़को विष्णुका और बैलको शिवका वाहन मानकर और बन्दरको रामका दूत समझकर लोग पूजते हैं। वस्तुतः मूलमें ये स्वतंत्र रूपसे पूज्य थे। नन्दीकी पूजा तो हिन्दू स्वतंत्र रीतिसे भी करते हैं। बहुतसे हिन्दू मारुतिकी पूजा भी स्वतंत्र रीतिसे करते पाये जाते हैं। वृक्ष, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत, नदी और ग्रहोंकी पूजा अत्यन्त प्राचीन कालसे अब तक बिना विशेष अंतरके चालू है।

पशु-पक्षियोंकी पूजाकी जड़ प्राथमिक अवस्थामें मिलती है। जिस समय मनुष्यको अपने आसपासके पशु-पक्षी अपनी अपेक्षा समर्थ और श्रेष्ठ जान पड़ते हैं, उस समय यह पूजा शुरू होती है। जब मनुष्यको यह ज्ञान हो जाता है कि उसका स्थान प्रकृतिके इतर प्राणियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, तभी उसमें भवितव्यपर सत्ता चलानेवाली और अपनी कक्षासे बाहरकी शक्तियोंमें अर्थात् देवताओंमें पशु पक्षियोंके गुणोंका आरोप करनेकी प्रवृत्ति कम होने लगती है। मनुष्यने बन्दर, सिंह, हाथी, गरुड़, नाग, बैल, वराह आदिके रूप अथवा अवयव धारण करनेवाले देवताओंको मनुष्यके महान् सामर्थ्यको अच्छी तरह समझनेसे पहले उत्पन्न किया था। जब मानव-संघ स्थिर राष्ट्र और स्थिर समाजके रूपमें दृढमूल हो गया, तब उसने मनुज-देह-धारी और मानव-गुणयुक्त देवोंको जन्म दिया और जब मनुष्यको यह विश्वास होने लगा कि उसमें पशुपक्षियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ शक्ति है तब मानव-देहधारी और मानव-गुण-युक्त देव मानव बुद्धिसे अवतरित हुए। विद्या और कलाके योगसे जिसने अपने आसपासकी सृष्टिपर आधिपत्य जमा लिया और अपने गुणोंके मांगल्यकी जिसे प्रतीति हो गई ऐसे मनुष्यने मनुष्य-सदृश देवता बनाये। पशु, पक्षी, नदी, पर्वत, अग्नि, सूर्य आदि देवताओंका बाह्य स्वरूप ज्योंका त्यों रखकर भी उनका अन्तरंग मानवी विकारों-विचारोंसे भरा हुआ है; ऐसी कल्पना वह करने लगा। मानवोंको मानवी पराक्रम ही अतिशयोक्तिके साथ देवताओंमें दिखने लगे। इस स्थितितक आनेके लिए मनुष्य-जातिको युगके युग बिताने पड़े।

पशु, पक्षी, सरीसृप, पाषाण आदि वस्तुओंके समान ही अग्नि, सूर्य, वर्षा,

वायु आदि निसर्गदेवता वास्तविक कार्य-कारण-भावके अज्ञानसे अस्तित्वमें आये। दावानल, तीव्र सूर्यातप, आँधी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, समुद्रका ज्वार-भाटा, सूर्य-चन्द्रका उदयास्त आदिकी गूढ़ताके कारण देवताओंकी कल्पना निर्माण हुई। निसर्गके इन व्यापारोंका अर्थ करना विज्ञानके निर्माण होनेतक अशक्य ही था। तब तक मनुष्यको अनेक या एक देवताकी कल्पनापर ही निर्वाह करना पड़ा। पूजा करना, यज्ञ करना और प्रार्थना करना ही उस परिस्थितिमें तरणोपाय था और यही उस समयका धर्म हुआ।

(इ) भूत-पूजा या पितृ-पूजा तीसरा धर्म है। संघके बड़े बूढ़े मनुष्योंके अधीन छोटोंका जीवन-निर्वाह होता है। संघके बड़े बूढ़े ही उनके जीनेके लिए जरूरी सारी तैयारी कर देते हैं। उनका अधिकार छोटोंपर रहता है। संघके उक्त बड़े मुखिया जब मृत्युके मुँहमें जा पड़ते हैं, तब संघकी बहुत बड़ी हानि होती है इसे संघका प्रत्येक मनुष्य बड़ी तीव्रतासे महसूस करता है और इसके कारण उनके हमेशाके लिए सम्पूर्ण नाशकी कल्पना असह्य होती है। स्वप्नमें और एकान्तमें उनके अस्तित्वका भास होता है। संघपर किसी प्रकारका संकट आनेपर ऐसा मालूम होने लगता है कि उक्त मरे हुए बड़े बूढ़ोंकी असन्तुष्ट वासनाकी यह बाधा है। तब उन पितरोंकी वासना तृप्त करने या पूजा करनेकी इच्छा पीछे रहनेवाले लोगोंको होती है। मृतोंके मरणोत्तर अस्तित्वकी भावनाकी उपपत्ति पहले मूर्त-पुरुषवाद (Animism) शीर्षकके नीचे बतलाई जा चुकी है। जड़ देहमें देहकी अपेक्षा निराला देहसरीखा चेतन पुरुष अथवा चेतन द्रव्य है और वह मृत्युके अनन्तर भी रहता है, इस कल्पनाके आधारसे भूत-पूजा अथवा पितृ-पूजा अस्तित्वमें आती है। इसी कल्पनामें भूत, प्रेत, पिशाच, बेताल आदिकी कल्पनाएँ अन्तर्भूत हैं। देवता और पुनर्जन्मकी कल्पना भी इसी मूर्त पुरुषवादसे उत्पन्न हुई। पहाड़, नदी, वृक्ष, भूमि, क्षेत्र, गृह आदिमें एक एक देवता है, यह कल्पना भी मूर्त-पुरुषवादकी ही एक बाजू है।

हिन्दू धर्ममें श्राद्धका बहुत महत्त्व है। नित्यतर्पण, दर्शश्राद्ध, महालय, अन्त्येष्टि, एकोद्दिष्ट, मासिक श्राद्ध, वार्षिक श्राद्ध, तीर्थश्राद्ध आदि अनेक प्रकारके श्राद्ध बतलाये गये हैं। वेदोंमें जो पिंड-पितृ-यज्ञ कहा है वह श्राद्धका

ही एक भेद है। काशी, गया, प्रयाग आदि क्षेत्रोंमें जानेपर अधिकांश हिन्दू श्राद्ध करते हैं। मृत राजाओंकी, सरदारोंकी और पुरोहितोंकी पूजा करनेका सम्प्रदाय प्राचीन मिसरी (Egyptian) संस्कृतिमें बहुत बढ़ा हुआ था। हिन्दूधर्ममें भी इस पितृ-पूजासे वीर-पुरुष-पूजा निकली। राम, कृष्ण, जिन, बुद्ध आदिकी प्रतिमाओंका पूजन मृत पूर्वजोंकी पूजाका ही एक उन्नत ढंग है।

हिन्दू-धर्ममें उत्तराधिकारके कायदोंका और श्राद्धका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्मृतिकारोंने मृत पूर्वजोंका अथवा वंशजोंका श्राद्ध करना दायभागका एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य कहा है। कुटुम्ब-संस्थाकी पवित्रता श्राद्धके लिए रक्खी जाती है। हिन्दू-धर्म-शास्त्रोंके अनुसार श्राद्ध कौटुम्बिक सम्पत्तिका एक महत्त्वका प्रयोजन है। कुछ स्मृतिकारोंने कहा है कि श्राद्ध न करनेवालेको सम्पत्तिका उत्तराधिकार न मिलना चाहिए। श्राद्धने जाति-संस्थाकी बहुत रक्षा की है। क्योंकि वंशकी पवित्रतासे श्राद्धका सम्बन्ध है।

पितृ-पूजाका देव-कल्पनापर बहुत प्रभाव पड़ा है। जगतके अनेक प्रधान धर्मोंमें ईश्वर, माता, पिता या राजा कहकर पूजा जाता है। बहुत प्राचीन कालमें जमातके नायकको राजा या पिता मानते थे। भू-माताकी पूजा हिन्दू-धर्ममें प्राचीन कालसे है। देवीकी पूजाका सम्प्रदाय भी बहुत पुराना है। देवी माता कहकर पूजी जाती है।

हिन्दू धर्मकी सबसे नीचे दर्जेकी धार्मिक कल्पनाओंका स्तर ऊपर बतलाया गया। उसके बाद दूसरा, उसकी अपेक्षा ऊँचा, एक भेद है। उसमें मानवसदृश अनेक-देव-पूजा और अनेक-शक्ति-पूजाका अन्तर्भाव होता है। दृश्य या इन्द्रिय-गम्य वस्तुओंके उस पार उन वस्तुओंपर सत्ता चलानेवाली एक अथवा अनेक चेतन वस्तुएँ हैं। वे मानवमें न दिखनेवाले कर्तृत्व और गुणोंसे सम्पन्न हैं। उनके शासनानुरूप वर्तन करनेसे मनुष्यको यहाँ और मरनेके बाद सद्गति मिलती है। इन विचारोंका इस धर्ममें मुख्य स्थान है।

(अ) इन्द्र, सविता, वरुण आदि ऋग्वेदके देवता केवल निसर्गकी विलक्षण अलौकिक शक्तियाँ ही नहीं हैं, उनमें ऋषियोंने मानवीय गुणोंका भी आरोप किया है। इन्द्र एक पराक्रमी और वीर राजा है। सविता और वरुण कायदे बनानेवाले और न्याय अन्यायका निबेड़ा करनेवाले अधिपति हैं। कला, कवित्त, ज्ञान, दया,

उपकार, करुणा, कृपा, सन्तोष, शौर्य, प्रीति, द्वेष, लोभ, मत्सर, क्रोध आदि मानव गुण ही उनमें पराकाष्ठाको पहुँचे हुए हैं। वे भक्तिके वश हैं। राम, कृष्ण, हनुमान, शिव, गणपति आदि हिन्दू धर्मके विद्यमान् देवताओंका स्वरूप भी ऐसा ही है। सदसद्वर्तनके साक्षी स्वर्ग-नरक और बन्ध-मोक्षके वे ही कारण हैं। सत्यका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उपदेश वही करते हैं। इन देवताओंमें अतिशय उदात्त मानव-गुण और मानव-दोष दोनों ही हैं। उनमें अभिमान, मत्सर, लोभ, सनक, द्वेष, स्तुति प्रियता आदि सारे दोष हैं। उनमें मनुष्यके सारे प्राकृतिक विकार हैं। वेदके यज्ञों, स्मृतियोंके होम-हवनों, पुराणोंके व्रतों, तीर्थ-यात्राओं, उद्यापनों, मन्दिरप्रतिष्ठाओं, नाम-संकीर्तन आदिसे वे देव सहज सन्तुष्ट होकर चाहे जो चमत्कार कर दिखाते हैं। बकरों, घोड़ों, और गायोंके मांस और घी, रोटी, भातसे वैदिक देव खुश होते हैं। पुराणोंके देवता बिल्व-पत्र, दूर्वा, तुलसी, पानीसे भी शान्त हो जाते हैं। कारण, वे दारिद्र्यके देवता हैं। पंच-पक्वान्नके नैवेद्य, राजमहल, पुष्प, धूप-दीपसे तो वे नितान्त प्रसन्न होते हैं और वर देते हैं। फिर भक्त उनसे चाहे जो चमत्कार करा लें।

(आ) हिन्दूधर्ममें इसकी अपेक्षा भी अधिक श्रेष्ठ देव-कल्पना है। वह है वस्तुके भाव-रूप तत्व। यह दूसरे प्रकारकी देवताओंकी उपासना प्रसिद्ध है। वस्तुओंकी चेतनरूप शक्ति अथवा तत्वको देवता मानना, यह कल्पना वेदोंसे ही उद्भूत हुई है। इन्द्र है बल-देवता, वरुण है साम्राज्य-देवता, सविता है आज्ञारूप प्रेरणारूप देवता, सरस्वती है पुष्टिदेवता या वाग्देवता और श्री है सर्व वस्तुओंके उत्कृष्ट गुणोंका रहस्य जिसमें एकत्र है ऐसी देवता (शतपथ ब्राह्मण ११)। प्रजापति यानी सर्ववस्तुमय जनन-शक्ति, ब्रह्म यानी निर्माण-शक्ति, विष्णु यानी रक्षण-शक्ति और रुद्र यानी संहार-शक्ति। चेतन तत्व या शक्तिके रूपसे देवताकी उपासना ब्राह्मण-ग्रन्थों और पुराणोंके तात्विक निरूपणमें कही गई है। इससे देवताको सूक्ष्म स्वरूप प्राप्त हुआ है।

देवताओंमें मनुष्यताका या सूक्ष्मताका आरोप करनेवाला हिन्दू धर्म श्रुति-स्मृति-पुराणोंमें मुख्यतासे वर्णित है। इन देवताओंका परस्पर सम्बन्ध जोड़कर उनकी भक्ति करनेवाला अथवा उन देवताओंमेंसे किसी एक देवताको चुनकर

उसे ही सर्व-शक्ति-मत्ता देनेवाला धर्म ऋग्वेदमें ही प्रगल्भ दशाको पहुँचा हुआ दिखता है।

हिन्दू धर्ममें अनेक देवताओंकी उपासना करनेवाले सम्प्रदाय प्रगल्भ दशाको पहुँचे। साथ ही साथ विधि-निषेध, गन्ध, माला, वेश, आदि विशिष्ट प्रकारके सम्प्रदाय चिह्न और भिन्न भिन्न सम्प्रदायके परस्पर व्यवहारके नियम भी अस्तित्वमें आये। उनकी पवित्रता अपवित्रताकी मर्यादा भी ठहराई गई।

(३) हिन्दू-धर्म संस्थाका सबसे वरिष्ठ और श्रेष्ठ एक और स्तर है। उसमें ब्रह्मवाद, एकेश्वरवाद और तत्त्ववाद ये तीन भेद हैं।

(अ) सब देवता एक ही सर्व-व्यापी तत्त्वमें समाये हुए हैं। सब देवता उसी एक तत्त्वके भाग हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड एक ही सत्तत्त्वसे उद्भूत होते हैं, वहीं स्थिर होते हैं और वहीं लीन हो जाते हैं। वे तत्त्व विश्व-रूप हैं। इस विचारको ब्रह्मवाद या सद्वाद कहते हैं। ऋग्वेदके अन्तमें दशवें मण्डलमें यह उदित हुआ और उपनिषद् (छान्दोग्योपानिषद् ६) में परिणतिको पहुँचा। मानवीय आत्मा जैसा ही परन्तु उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ, सर्व-शक्ति-सम्पन्न, सर्व-गुण-सम्पन्न, परमात्म-व्यक्तिकी अपेक्षा ब्रह्म अधिक सूक्ष्म है। वह व्यक्ति (Person) नहीं तत्त्व है। उसका ज्ञान हुआ कि मनुष्यका जीवन कृतार्थ हो गया। उसके ज्ञानके लिए धार्मिक कर्म-कांडकी अपेक्षा संयम, शान्ति, उदारता आदि गुणोंकी ही अधिक जरूरत है। स्वर्ग, मोक्ष, सुगति, दुर्गति आदिके कर्त्ता, कृपालु, दयाघन परमेश्वरकी अपेक्षा ब्रह्म अव्यक्त है। क्योंकि वहाँ अहंभाव या व्यक्तित्व नहीं है।

(आ) हिन्दू धर्ममें धर्मका उच्चतम लक्षण एकेश्वरवाद है। सर्व-जगतका शास्ता और सर्व-शक्तिमान् अन्तरात्मा ही एक परमेश्वर है, बाकी सब उसके अधीन हैं। इस सिद्धान्तको एकेश्वरवाद कहते हैं। शैव और वैष्णव सम्प्रदायोंका यही सिद्धान्त है। परमेश्वरकी भक्ति अनन्य भावसे करना या सर्वथा उसकी शरणमें जाना ही मनुष्यके उद्धारका एकमात्र मार्ग है। सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, इन्द्रिय-दमनके योगसे परमेश्वरकी सच्ची भक्ति सधती है, इसलिए ये नीति-तत्त्व धर्मके गाभे हैं। परमेश्वरकी कृपासे ही सुख और श्रेयस् और अवकृपासे दुःख और अधोगति प्राप्त होती है।

यह भावना उपनिषदों (छान्दोग्योपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद्) में कुछ स्थानोंमें दिखती है। एकेश्वरवादी सम्प्रदाय मूलमें अवैदिक हैं। वैदिक कर्म-काण्डसे और औपनिषद् ज्ञान-मार्गसे असम्बद्ध कई अवैदिक सम्प्रदाय प्राचीन कालमें थे। उनमेंसे ही वैष्णव, शैव, शाक्त आदि एकेश्वरवादी सम्प्रदाय उत्पन्न हुए हैं। भगवद्गीता वासुदेव (भागवत) सम्प्रदायका वैदिक मार्गसे समन्वय होनेपर तैयार हुई है।

(इ) हिन्दू धर्मकी तीसरी उच्चतम शाखा तत्त्ववाद है। कपिल-सांख्यका प्राचीन सम्प्रदाय इस वादका मुख्य प्रतिनिधि है। यह ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। मनुष्यका आत्मा विश्व-तत्त्वोंकी जानकारी प्राप्त करके ही मुक्त होता है, यह उसका मुख्य सार है। तत्त्वोंकी जानकारी चित्त-शुद्धिसे होती है। चित्त-शुद्धि सात्त्विक-आचरणसे, संयमसे और सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि नैतिक आचरणोंसे होती है। इसी तत्त्ववादी सम्प्रदायमें जैन और बौद्ध तत्त्व-ज्ञानोंका अन्तर्भाव होता है। ये सम्प्रदाय भी ईश्वरका अस्तित्व नहीं मानते।

हिन्दू धर्मकी उपर्युक्त उच्चतम शाखा कर्म-काण्ड, वर्णाश्रम-धर्म, पूजा, व्रत, तीर्थ, मन्दिर, यात्रा आदिको गौण ही समझती है। इन तीन धर्म-शाखाओंमेंसे एकेश्वर और सर्वेश्वर माननेवाला भक्ति-सम्प्रदाय ही धर्म-संस्थाकी सच्ची परिणति है। परमेश्वर-शरणागतिमें सब धर्मोंका सार आ जाता है। मनुष्यके अन्तः-करणकी भक्तिकी और श्रद्धाकी परिसमाप्ति एकेश्वरवादमें होती है। ब्रह्मवाद और तत्त्ववादमें तार्किक समीक्षा और बौद्धिक खोजका प्रारम्भ होता है। यह तार्किक समीक्षा और बौद्धिक खोज तर्क-शास्त्रके प्रगल्भ नियमोंके सहारे शुरू हुई कि धर्मकी नींव डगमगाने लगती है। अलौकिक कार्य-कारण-भाव जाकर वहाँ लौकिक उपपत्ति आ जाती है।

कुछ आधुनिक पंडित हिन्दूधर्मके इस संकीर्ण स्वरूपका समर्थन किया करते हैं। प्रो० राधाकृष्णन् उनके अगुए हैं। वे कहते हैं:—"हिन्दूधर्म किसी विशिष्ट धर्म-ग्रन्थ और विशिष्ट धर्म-संस्थापकको प्रमाण नहीं मानता। उसमें अनेक उपासना-मार्गों, विविध उपास्य-देवताओं और बहुविध धर्मद्रष्टाओंका संग्रह है। इससे सिद्ध होता है कि यह धर्म व्यक्ति-निष्ठ नहीं है। यह किसी पंथ विशेषका आग्रह नहीं करता। यह मानता है कि अधिकार-भेदसे सारे धर्म

संग्राह्य हैं। यह सर्व-संग्राहक और उदार है। शब्द-प्रामाण्यको और ऐकान्तिक सम्प्रदाय-प्रामाण्यको यह कम महत्त्व देता है। अनेक ऋषियों, अनेक साधुओं, अनेक तत्त्व-वादों, अनेक देवोंकी पूजा और पारमार्थिक उन्नतिके अनेक प्रकारके पंथोंके कारण हिन्दू धर्म परमत-सहिष्णु हो गया है। वह दूसरे धर्म-सम्प्रदायोंको पूर्ण अधर्म अथवा अधोगतिका मार्ग समझकर बहिष्कृत नहीं करता। हिन्दू धर्ममें बुद्धि-स्वातंत्र्य और व्यक्ति-स्वातंत्र्य है। अत्यन्त जंगली लोगोंकी धर्म-कल्पनाओंको भी उदारतासे स्वीकार करके उसने उन लोगोंको हिन्दू-समाजमें स्थान दिया और उनके प्रति जो बैर था उसे मिटा दिया। नाग, गणपति, हनुमान, गरुड़ आदि जुदा जुदा जमातोंके देवता थे। हिन्दू आचार्योंने नागोंको शिवजीका भूषण, और गणपतिको शिवका पुत्र बनाया और हनुमानको रामका दास। इस तरह भिन्न भिन्न देवताओंका मिलाप कराके भिन्न भिन्न विरोधी जमातोंमें सख्य स्थापित किया और विरोधका सामुदायिक अथवा सामाजिक ऐक्य भावमें रूपान्तर कर दिया। हिन्दू धर्म क्रिश्चियन और मुसलमान धर्मोंके समान प्रचारक और परमतासहिष्णु धर्म नहीं है। क्यों कि वह सारे ही धर्मोंको धार्मिक दृष्टिसे अंशतः सत्य मानता है।"

इस प्रकारका समर्थन गत शताब्दीके अनेक महान् हिन्दू पंडितोंने किया है। पर इस समर्थनमें अनेक हेत्वाभास हैं। हीन धर्मकल्पनाओंको सँभालना अथवा स्वीकार करना, इसे उदारता कहनेकी अपेक्षा दुर्बलता कहना अधिक ठीक है। क्यों कि हीन कल्पनाओंके योगसे मनुष्यकी अधोगति होती है और इसीलिए मनुष्यको उच्च कल्पनाओंका स्वीकार करना पड़ता है। उन हीन कल्पनाओंमें भी सत्यांश मानना एक बड़ी भारी भ्रान्ति है। उन कल्पनाओंका नाश करना ही सबसे पहला कर्त्तव्य है। यदि यह कहा जाय कि उच्च कल्पनाओंका धर्म हीन श्रेणीके लोगोंके लिए उपयुक्त नहीं होता, उसके वे अनधिकारी होते हैं तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि हिन्दूधर्मने जिस तरहके लोगोंको एकेश्वरवादी और ब्रह्मवादी उच्च धर्मका अनधिकारी ठहराया है, उसी तरहके अनेक पिछड़े हुए लोगोंको और जमातोंको बौद्ध क्रिश्चियन और मुसलमान धर्मोंके प्रचारकोंने अपने धर्मकी दीक्षा देकर उच्चश्रेणीकी समाज-संस्था निर्माण की है। अनेक तरहके मानव-समाजोंकी पिछड़ी हुई धर्म-कल्पना नष्ट करके, उच्च श्रेणीका धर्म देकर उनकी

प्रगति की जा सकती है, इसके क्रिश्चियन और मुसलमान धर्मोंके इतिहासमें अनेक उदाहरण हैं। दूसरोंके मतके विषयमें असहिष्णु होनेकी अपेक्षा दूसरोंकी भ्रान्तिके विषयमें सहिष्णु रहना, बड़ा भारी अपराध है। बौद्ध, क्रिश्चियन और मुसलमान जैसे प्रचारक धर्म जब दूसरे पुरातन धर्मोंको नेस्तनाबूद करनेके लिए कटिबद्ध हुए, तब उन्होंने अनन्त मूर्ख कल्पनाओंके मलिन पुट मानवी अन्तःकरणपरसे नष्ट कर डाले। हिन्दू धर्मने जो उन अपधर्मोंका संग्रह कर रखा, सो कोई पुरुषार्थ नहीं किया। इससे उसकी दुर्बलता ही प्रकट हुई।

हिन्दूधर्म एक धर्म नहीं है, वह अनेक हीनोच्च धर्मोंका संग्रह है। यह कहना बिलकुल ग़लत है कि उसमें शब्द-प्रामाण्य नहीं है। उसमें प्रत्येक सम्प्रदायके स्वतन्त्र शब्द-प्रमाण हैं। हिन्दू समाज किसी विशिष्ट धर्म-ग्रन्थको अथवा धर्म-पंथको नहीं मानता है, इसलिए यदि उसे उदार माना जाय, तो फिर यह भी कहा जा सकेगा कि मानव जाति बहुत उदारमतवादी है। कारण वह किसी भी एक धर्म-ग्रन्थ और धर्म-संस्थापकको नहीं मानती है। उसमें बौद्ध, क्रिश्चियन, हिन्दू, मुसलमान आदि अनेक धर्म हैं। वास्तवमें ऐसी कोई भी बात हिन्दू धर्ममें नहीं है जिसमें शब्द और रूढ़ि प्रमाण न हों। हिन्दू धर्ममें शब्द प्रामाण्य भरपूर है। धर्म-ग्रन्थ, गुरु-परम्परा और रूढ़ि इनकी प्रमाणता हिन्दू धर्मकी प्रत्येक बातमें है। छोटे बड़े गुटोंके धर्म-गुरु और धर्म-ग्रन्थ अलग अलग हैं। प्राचीनतम हीन-स्थितिके अनेक निम्न प्रकारके धार्मिक आचार-विचारोंको और रीति-रिवाजोंको पवित्रता देनेके कारण हिन्दू धर्म एक अजायब-घर या पुराण-वस्तु-संग्रहालय बन गया है। हिन्दू धर्मके माननेवाले जो क्रिश्चियन अथवा मुसलमानोंतकके देवताओंको मानते हैं और जुदा जुदा पंथोंके देवताओंकी और गुरुओंकी आराधना करते हैं, इसका कारण मत स्वातंत्र्य, बुद्धि-स्वातंत्र्य अथवा उदार-मनस्कता नहीं है। यह भोले और डरपोक स्वभावका लक्षण है। चाहे जिस देवता या गुरुके शरण जानेकी प्रवृत्ति मनकी कमजोरी ही प्रकट करती है। धार्मिक अन्ध-श्रद्धाकी अत्यन्त काली तहोंपर तहें चढ़ते जानेसे ज्ञान-चक्षु अन्धे हो गये, भोली और अनाड़ी कल्पनाओंके जालमें बुद्धिके पैर उलझ गये और पारलौकिक भ्रान्तिके संमोहसे भावना भ्रमपूर्ण ध्येयकी अर्गलाके नीचे अटक गई कि हृदय दुर्बल और क्लीब बन जाता है और चाहे जिसके आगे झुक जाता है।

और यह भी ऐतिहासिक सत्य नहीं है कि भिन्न भिन्न हीनोच्च जमातोंको एक सामाजिक संस्थामें अन्तर्भाव करनेके लिए और वे मिल-जुलकर प्रेम-प्रीतिसे रहने लगें इसलिए, उनके विविध धर्म हिन्दुओंने रख छोड़े। इसके विपरीत असलियत यह है कि भारतवर्षमें जिन जिन मानव-संघोंका परस्पर सम्बन्ध हुआ, उन सबका साहचर्य और सम्मिश्रण होते होते उनके धार्मिक और सामाजिक आचार-विचारोंका भी सम्मिश्रण हो गया। ऐसा नहीं है कि धार्मिक और सामाजिक आचार-विचारोंका सहिष्णु बुद्धिसे संग्रह किया गया, इसलिए उन सब जमातोंका हिन्दू समाजमें समावेश हो गया। बल्कि इससे उल्टे उन जमातोंका सम्मिश्रण हो जानेके कारण उनके आचार विचारोंका संग्रह हुआ; उनके आचार-विचार पहलेके लोगोंके आचार-विचारोंमें मिल गये। उन जमातोंका सम्मेलन केवल मानवतामूलक प्रेमके कारण नहीं, किन्तु देशान्तर, उपजीविका, युद्ध आदि कारणोंसे हुआ। इसका कारण उदारता भी नहीं है। हिन्दू धर्म उदार नहीं कृपण है। उपासना-सम्प्रदायोंके बाबत शिथिलताको उदारता नाम दिया जाता है। हिन्दू धर्मकी जाति-संस्था और वर्ण-संस्था अनुदारताकी मूर्ति है। यदि उदारता होती, तो शूद्र-दासता, अस्पृश्यता, जातियोंकी जन्म-सिद्ध उच्च-नीचता आदि हजारों वर्षोंसे जमे हुए अनुदार और जुल्मी कायदे हिन्दू धर्मके मुख्य भाग न बने होते और वैदिक धर्मका परिपालन करनेमें शूद्रादिको रोकनेवाले और इसके लिए देहान्त दण्ड देनेवाले कायदे स्मृतियोंमें न होते। छोटे बड़े अपधर्म हिन्दू धर्ममें टिके रह सके, इसका कारण यह है कि उच्च धर्म-कल्पनाओंको पूर्ण प्रभावशाली स्वरूप देनेवाली संघटित लोक-शक्ति उसमें निर्माण ही नहीं हुई। उदात्तधर्मके चैतन्यसे भरे हुए और उच्च नीच सब प्रकारकी संस्कृतियोंके स्तरोंवाली मानव-जातिको श्रेयका एक ही मार्ग दिखलाकर हीन-प्रवृत्तियों और कल्पनाओंके बंधनसे मुक्त करनेवाले धर्म-वीर हिन्दू धर्मको जितने चाहिए उतने नहीं मिले और यदि मिले भी तो विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियोंके कारण वे यशस्वी नहीं हो सके। शताब्दियोंसे निरन्तर आपसमें ही लड़नेवाले अरबों, तुर्कों और मध्य एशियाकी भ्रमणशील सैकड़ों टोलियोंको संगठित और एकजीव करके पश्चिम एशियामें एक महान् समाज-निर्माणका काम इस्लामके संदेशने किया। उनमेंकी कितनी ही टोलियोंका पूर्वेतिहास यदि देखा जाय तो वे हिन्दुस्तानके निम्न-स्तरके लोगोंकी अपेक्षा उन्नत संस्कृतिके

नहीं थे। क्रिश्चियन और बौद्ध धर्मके सम्बन्धमें भी थोड़ेसे फर्कके साथ यही बात कही जा सकती है। उच्च कल्पनाओंके छत्रके नीचे अनन्त हीन कल्पनाओंको सहिष्णुताके नामसे फैलने देना, यह बौद्धिक और मानसिक अधोगतिका लक्षण है।

एकेश्वरवादी, ब्रह्मवादी अथवा तत्त्ववादी धर्म-संस्थामें ऐसे व्यापक तत्त्व होते हैं जो मानवी जीवनके लिए उपयुक्त और हीनोच्च संस्कृतिके मानव-संघों और राष्ट्रोंको प्रगतिके नये युगमें ले जाते हैं। उन तत्वोंको ही जब पूरी प्रधानता मिलती है, तभी यह एकेश्वरवादी अथवा नीति-प्रधान धर्म-संस्था प्रचारक बनती है। उसके प्रभावसे हीन अपधर्मोंका नाश होकर निर्मल बुद्धिवादपर अवलम्बित सामाजिक और भौतिक शास्त्रों तथा कलाओंको विकासका अवसर मिलता है। विशिष्ट मानव-समूहके नाना झंझटों और उलझनोंवाले रूढ़ कर्म-काण्डों, अपने अपने समाजोंके परम्परागत संकुचित रीति-रिवाजों और विशिष्ट मानव-समूहको मान्य संस्कार-विधियोंको धार्मिक दृष्टिसे गौणता दिये विना यह उच्च तत्त्ववादी धर्म प्रसरणशील और प्रचारशील नहीं हो सकता। इन बातोंका त्याग करनेसे ही धर्ममें विशिष्ट जाति, विशिष्ट वंश, विशिष्ट राष्ट्र और विशिष्ट जमातोंकी मर्यादाका उल्लंघन करनेकी शक्ति आती है। विशिष्ट रूढ़ियाँ और सामाजिक कायदे ही जिस धर्म-संस्थाके मुख्य भाग होते हैं वह धर्म कितना ही उच्च और व्यापक तत्त्वोंसे परिपूर्ण क्यों न हो; प्रसरणशील और पराक्रमी नहीं हो सकता। एक समाज अथवा जमातकी रूढ़ियाँ और रीति-रिवाज अन्य समाज और जमातें ज्यादा परिमाणमें नहीं ग्रहण कर सकतीं। व्यापक कल्पनाओंको ही जिस धर्ममें मध्यवर्ती स्थान मिलता है, विशिष्ट धर्मसंस्थापक और विशिष्ट ग्रन्थको ही जिसमें एकमेवाद्वितीय स्थान प्राप्त है, वही सीधा साफ धर्म ही परकीय जमातों और समाजोंमें प्रसरणयोग्य होता है।

हिन्दू धर्मकी बात वैसी नहीं है। उसमें भिन्न भिन्न जमातोंके भिन्न भिन्न कर्म-काण्ड, कुलजातिदेशधर्म और विभिन्न तथा विषम रीति-रिवाजोंको ही सनातनधर्मत्व प्राप्त हो गया। सैकड़ों छोटी छोटी जमातों, वंशों और संघोंके उच्च नीच आचार-विचारों और हीनोत्तम कल्पनाओंको पवित्रता और वन्दनीयता प्राप्त हो गई। इसका कारण यह है कि जिन राजकीय और सामाजिक शक्तियोंको संकुचित मर्यादाओं और क्षुद्र बन्धन-जालोंकी, प्रगति-

मार्गमें रुकावट मालूम होने लगती है और जिन्हें विविध मानव-जातियोंके जीवनको व्यापक प्रमाणमें संघटित करनेका कार्य करनेकी गरज उत्पन्न होती हैं और जिनमें प्रबल मध्यवर्ती राजसंस्था जन्म लेती है ऐसी राजकीय सामाजिक शक्ति हिन्दुस्तानमें चिरकाल तक टिकी नहीं, वह पूर्ण उत्कर्ष होनेके पहले ही क्षीण हो गई। इससे श्रुति-स्मृतियोंके और विशिष्ट कुल जाति-धर्मोंके संकुचित कायदोंको ही महत्त्व देनेवाली प्रवृत्ति इस देशमें अन्त तक बनी रही। व्यापक धर्म-तत्त्व बीचमें ही लटकते रह गये। उन धर्म-तत्त्वोंमें हीन विधि-निषेधोंको हिलाने-डुलानेका सामर्थ्य नहीं आया। उनके आधारसे नवीन उन्नत समाज-रचना नहीं हुई।

इस संकीर्ण हिन्दू धर्मको जीते रखनेका कार्य पुरोहित ब्राह्मण वर्गने दीर्घकाल पर्यन्त किया। इससे ऐहिकप्रधान वस्तुवादी विचार-सरणिमें प्रगल्भता नहीं आई और वैसी विचार-सरणिके लिए पोषक समाज-रचना भी अस्तित्वमें नहीं आई। हीन-धर्मपर जीनेवाला पुरोहित वर्ग ही इस धार्मिक गोलमाल और जाति-संस्थाके लिए जवाबदार है। ग्रह, भूत, वैताल, देवता, आदि भ्रान्तियोंपर जीनेवाले वर्गने छोटी बड़ी जमातोंके हीन धर्मोंकी रक्षा अपनी स्वार्थी प्रवृत्तिके कारण की। उसने सैकड़ों देवता, शकुनों अपशकुनोंकी कल्पना, आड़े-टेढ़े विधि-निषेध, व्रत-वैकल्य, उद्यापन, प्रायश्चित्त, मुहूर्त, शान्ति, ग्रह-पीड़ा-परिहार आदि तरह तरहके ढोंग-धतूरे समाजमें कायम रखकर अपना प्रभाव जमाये रक्खा। पौराणिक धर्मशास्त्र इसी बातकी गवाही देते हैं।

जहाँ समाज संस्थामें पुरोहित वर्गकी अपेक्षा निराले उद्यमशील-वर्गको प्रधानता मिलती है, वहाँ ही नये प्रगमनशील विचार प्रभावशाली होते हैं। ग्रीसमें पुरोहित वर्ग जब पिछड़ गया, तभी तत्त्व-ज्ञान और विज्ञान निर्माण हुए। दीर्घ-कालतक टिकनेवाले रोमन साम्राज्यके कारण ही व्यापक क्रिश्चियन धर्म यूरोपमें रूढ़ हुआ। अरबस्तानमें व्यापारियों और क्षत्रियोंका महत्त्व बढ़नेपर ही इस्लामकी स्थापना हुई। हिन्दुस्तानमें व्यापक प्रचारशील बौद्धधर्म ब्राह्मणेतर वर्गने ही स्थापित किया। पुरोहित-प्रभावको उतरती कला लगनेपर ही नवीन पाश्चात्य संस्कृति और सुधारका उदय हुआ। जिस समय मानव-समाज पहली जंगली स्थितिसे बाहर निकला उस समय ही पुरोहित वर्ग प्रगतिका नेता था। उसके बाद तो उसने

प्रगतिके मार्गमें अनेक बार रोड़े ही अटकाये। हिन्दुस्तानका इतिहास इसका साक्षी है। हिन्दू-धर्मके अस्त-व्यस्त स्वरूपके लिए वही जवाबदार है।

हिन्दूधर्मकी ऐतिहासिक उपपत्ति

हिन्दू धर्मके स्वरूपके विविध-स्तरोंकी समीक्षा की जा चुकी। हिन्दू-धर्ममें संसारके अन्य धर्मोंके समान ही मानवी समाजके गढ़न-विघटनकी, उन्नति और अवनतिकी, मीमांसा की गई है। इसे ही इतिहासकी उपपत्ति (Philosophy of History) कहते हैं। अब हिन्दू धर्मग्रन्थोंमें इतिहासकी क्या उपपत्ति दी है, सो देखें।

हिन्दू धर्ममें दो तरहकी उपपत्तियाँ—दैवी और मानवी—बतलाई गई हैं। अवतारवाद और युगवाद इतिहासकी दैवी उपपत्ति है। भारत, गीता और पुराणोंमें कहा है कि ईश्वर अवतार लेता है और सज्जनोंको संकटसे मुक्त करता है। कुछ पुराणोंमें कहा है कि जब मनुष्योंमें राक्षस और असुर अवतार लेते हैं, तब समाज अवनतिको प्राप्त होता है और जब देव अवतरित होते हैं तब अधःपातसे छुटकारा होता है और उन्नतिका मार्ग सुलभ होता है। चार युगोंके चक्रनेमिक्रमकी भी एक उपपत्ति बतलाई है। इस उपपत्तिके अनुसार कालप्रभावसे ही समाजकी प्रगति या अवनति हुआ करती है। उन्नति अवनतिका रहँट बराबर चला ही करता है। कलियुगमें पूर्ण अवनति और कृतयुगमें पूर्ण उन्नति होती है। यह क्रम अपरिहार्य है। इस उपपत्तिका अर्थ इतना ही है कि समाजका या मानवका भवितव्य अवतार, विभूति, अदृष्ट, अलौकिक शक्ति अथवा कालके अधीन है। मानव पराधीन है। वह दैवका या देवका बलि है।

इतिहासकी लौकिक उपपत्ति महाभारतके शान्ति पर्वमें भीष्मने बतलाई है। राजसंस्था उत्तम हुई तो प्रगति होती है और उस संस्थामें यदि दुष्ट राजा पैदा हो गया, तो अवनति होती है। समाजके उत्कर्षापकर्षके लिए राजसंस्था ही जवाबदार है। कृतयुग अथवा कलियुग राजाके कारण ही आता है। 'राजा कालस्य कारणम्।'

महाभारतमें एक दूसरी लौकिक और बुद्धिवादी उपपत्ति भी सूचित की है।

लोकप्रवृत्ति ही ऐतिहासिक उत्कर्षापकर्ष करनेवाली है। राजाको लोग ही निर्माण करते हैं। एक समय राजा नहीं था, तब लोग स्वधर्म-बलसे अथवा परस्पर बर्तनके नियम-निर्बन्ध ठहराकर उत्तम प्रकारसे जीवन-यात्रा चलाते थे। कुछ समयके बाद अराजकता या मात्स्य-न्याय शुरू हो गया, तब लोगोंने मनुको राज्य पद दिया। सो दैवी उपपत्तिके बदले इतिहासकी लौकिक उपपत्ति बतला सकने योग्य बौद्धिक प्रगति भारतीय तत्त्ववेत्ताओंकी इतने प्राचीन कालमें हो गई थी। परन्तु इस उपपत्तिको विचारोंमें दृढ़मूल करने जितना सामर्थ्य उस समयके समाजमें नहीं रह गया था। इससे दैवी उपपत्ति ही भारतीय मनपर शासन करती रही। श्रुति-स्मृतिमें भी एक उपपत्ति दी है * कि लोक-धारणा राजा और पुरोहितपर अवलम्बित है। उनकी कर्तव्य-जागृतिपर ही समाजका तरना और डूबना अवलम्बित है।

यहूदी, पारसी, ईसाई और मुसलमान धर्मोंमें इतिहासकी दैवी उपपत्ति ही बतलाई है। पारसी धर्मशास्त्रके अनुसार अंग्रमैन्यू या अनृतशक्ति जब प्रभाव डालने लगती है, तब संसारको अन्धकार युग ग्रस लेता है। वह अंध युग अब भी शुरू है। वह दुष्ट प्रभाव कम होते होते अन्तका दिन निकलेगा, उस दिन अन्तका न्याय निर्णय होगा और ईश्वरीय राज्यकी स्थापना होगी। ईसाई और इस्लामके अनुसार शैतान ही अनिष्ट पापशक्ति है। वही अधःपातका कारण है। पारसी धर्मकी 'न्यायका अन्तिम दिन और ईश्वरीय राज्य या स्वर्गकी स्थापना' की कल्पनाको ही ईसाई और मुसलमान मानते हैं। बार बार 'प्रेषित' आते हैं और ईश्वरीय सन्देश देकर मानवोंको सन्मार्ग दिखलाते हैं। ईसाइयोंके मतसे ईसा और मुसलमानोंके मतसे मुहम्मद अन्तके श्रेष्ठ प्रेषित (पैगम्बर) हैं। आसुरी शक्तिके कारण जगत् दुराचारी बनता है और दैवी शक्तिके कारण सत्य युग, स्वर्गीय जीवन, ईश्वरीय राज्य शुरू होता है। यह कल्पना सभी धर्मोंमें एक-सी है।

हिन्दू धर्ममें दर्शनका अथवा तत्त्वज्ञानका उदय होनेपर सारे मानवोंके उद्धार

---

* शतपथब्राह्मण गौतम-धर्मसूत्र।

और पतनकी दैवी मीमांसाके साथ वैयक्तिक मोक्षके विचारको भी महत्त्व मिला।

प्राचीनकालीन अनेक प्रकारकी अवस्थाओंमेंसे जाते जाते हिन्दू धर्मको वर्तमान स्वरूप प्राप्त हुआ है। इतिहास-क्रममें उसकी पाँच अवस्थायें निश्चित की जा सकती हैं--(१) पृथक् पृथक् संघ-धर्म (Tribal Religions), (२) वेदपूर्व भारतीयोंका अनेकदेववादी धर्म, (३) वैदिक आर्योंका श्रौत-स्मार्त धर्म, (४) शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि विश्व धर्म और (५) श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त हिन्दू धर्म।

हिन्दू धर्मकी ऐतिहासिक अवस्थायें

पृथक् पृथक् संघ-धर्म

(१) यह अत्यन्त प्राथमिक स्थितिके मानव-धर्मका स्वरूप है। कृषि शिल्प आदि भिन्न भिन्न व्यवसायों और श्रम-विभागसे बने हुए सम्मिश्र स्वरूपका स्थिर समाज उत्पन्न होनेके पहले गण-धर्म अथवा संघ-धर्म अस्थिर भटकनेवाले समाजमें रहता है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नाग, गणपति, हनुमान, नन्दी, पीपल, गंगा आदि देव अतिशय प्राचीन विशिष्ट मानवगणोंके संघ-देव थे। हमारे यहाँ प्राचीन-कालमें नाग नामका मानव-संघ था। उसकी संस्कृतिका अवशेष नाग-पंचमीका त्यौहार है। वानर नामके भी लोग थे, यह बात रामायणसे मालूम होती है। उन्हींका देव हनुमान है। हिन्दुओंमें बैल और नन्दीकी पूजा की जाती है। नन्दी भी गण-देव था। वेदोंके इन्द्र, वरुण, अश्वी, भग, वायु आदि भी पहले अलग अलग आर्य-कुलोंके अथवा टोलियोंके पृथक् पृथक् कुल-देव होंगे, ऐसा कुछ वेदाभ्यासी[१] पंडितोंका खयाल है। प्रत्येक गणका अलग देवता था और बहुधा उस गणका और देवका नाम एक ही होता था। जो मानव-कुल अनेक सामाजिक कारणोंसे एक जगह मिल जुल जाते थे उनकी उपासना और आचार भी मिल जाते थे। इस तरह एकत्रित हुए अनेक मानव-गुणोंके देव-धर्म हिन्दू धर्ममें एकत्र हो गये हैं। सांघिक यातु-धर्म (Tribal Magic) प्राथमिक (Primitive) गणोंका धर्म है। अनाजकी उपज ठीक हो,

(१) The Religion of India P. 171 by E. W. Hopkins

पशु-धन बढ़े और प्रजा बढ़े, इसके लिए सारा समाज एकत्र होकर एक बड़ा भारी वार्षिक त्यौहार मनाता था। उसमें धार्मिक विधि और नाच-तमाशे महत्त्वका भाग था। इस तरहके प्राचीन गण-धर्म हिन्दू-धर्ममें पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए हमारे सामने होलीका त्यौहार है जो प्राचीनकालका सांघिक यातु-कर्म (Tribal Magic) है। ग्राम-देव और प्रान्तीय-देव प्रत्येक प्रान्तमें अलग-अलग हैं। वे भी असलमें संघ-देव हैं। मनसा और काली बंगाली देवता हैं, शीतला देवी संयुक्तप्रान्तीय है। गोरीय और दिल्लीगोरीय देव विहारमें अत्यन्त पूज्य माने जाते हैं। षडानन अथवा कार्तिकस्वामी तामिलदेशका अत्यन्त पूज्य देव है; विठोबा, खंडोबा महाराष्ट्रके देव हैं। ये प्रान्तीय देवता और दूसरे ग्राम देवता मूलमें प्राथमिक गणोंके देवता हैं।

ऊमर (गूलर), पीपल, आदि वृक्षोंकी और जानवरोंकी पूजा करनेकी पद्धति जंगली जमातोंका धर्म है। यह यहाँके अतिशय प्राचीन निवासियोंका अर्थात् नग्रिटो (Negrito) नामक मानव-गणोंका धर्म होगा, ऐसा कुछ समाज-शास्त्रज्ञोंका अनुमान है।[1] वैदिक लोगोंकी ही यह परम्परा हो सकती है। अथर्ववेदमें वनस्पतियोंको देवता समझकर उनके उद्देशसे प्रार्थना की गई है। यजुर्वेदमें यज्ञीय वृक्ष अत्यन्त पवित्र और पूज्य माने गये हैं। यह बात वैदिक आर्योंकी अति प्राचीन जंगली अवस्थाकी होगी। गूलर, पीपल, बड़, शमी ये यज्ञीय वृक्ष हैं। गाय-बैल यज्ञीय पशु हैं। यज्ञीय पशुओंको पूज्यत्व और देवत्व देनेकी प्रथा बहुतसे धर्मोंमें पाई जाती है। संसारके सारे पाश्चात्य और पौर्वात्य मानव-वंशोंमें नरमेध अथवा मनुष्य-बलि देनेकी चाल थी। इस चालको हमारे यहाँ ब्रिटिशों कानूनद्वारा बन्द किया गया है। अब भी भारतके कुछ भागोंमें यह चाल लुक-छिपकर जारी है। वेदोंमें नरमेध कहा गया है। उस समय मनुष्य मारनेकी चाल तो बन्द हो गई थी, परन्तु वह किसी न किसी समय वैदिक लोगोंमें चालू थी, यह बात शुनःशेपकी कथासे स्पष्ट हो जाती है। धान्य, पशु, प्रजाकी समृद्धि होनेके लिए मनुष्य के शरीरके आत्म-द्रव्यका उपयोग हो, इसलिए नरबलि, नरमेध अथवा नरमांसाशन विधिपूर्वक करनेकी चाल मनुष्य जातिमें पड़ी थी। यह हिन्दू धर्ममें बहुत प्राचीन कालसे बन्द हो गई है।

---

(१) Census Ethnography, India p. 65. 1901–1931.

वेदपूर्व भारतीयोंका धर्म

(२) वैदिक आर्योंके पहले भारतमें एक सुसंस्कृत समाजका अस्तित्व था और उस समाजके धर्मको ही हम वेदपूर्व भारतीय धर्म कहते हैं। इस धर्ममें और इजिप्त, ईराकके पुरातन-धर्मोंमें अतिशय समानता है। भारतकी अत्यन्त प्राचीन संस्कृति एशिया माइनर और भूमध्यसागरीय प्रदेशोंकी संस्कृतियोंसे बहुत ज्यादा समानता रखती है और वहाँके तथा यहाँके मानव-वंशोंमें भी बहुत ज्यादा समानता है। मोहनजोदारो और हरप्पाकी खुदाईमें जो नगरोंके अवशेष मिले हैं उनपरसे गूहे और कीथ आदि अन्वेषकोंने इस बातको सिद्ध किया है। वैदिक आर्योंसे पूर्वकी, अथवा जो वेदोंमें नहीं है वह, धर्म-संस्था पाँच हजार वर्ष पहले सिन्धु-तीरपर निर्माण हुई। उस संस्कृतिके मानवोंको मानवजातिशास्त्रज्ञ भूमध्य-सागरीय (Mediterranean) अथवा (Armenoid) कहते हैं। इजिप्ट, क्रीट, सुमेर, असीरिया, बाबिलोनिया और खाल्डियाकी संस्कृतिमें और मानव-वंशमें अत्यन्त समानता मिलनेके कारण प्राचीन भारतके अति प्राचीन इतिहासका एक महत्त्वपूर्ण काल-खण्ड इतिहासज्ञोंको दिखने लगा है। इजिप्ट, क्रीट और मेसोपोटामियाकी संस्कृतिमें भी शिव, विष्णु और काली देवता हैं। नाग-पूजा, लिङ्ग-पूजा, देवी-माताकी पूजा, चन्द्र-पूजा, ग्रह-पूजा और पितृ-पूजा तो है ही। वेदोंमें लिङ्ग और पूजा ये शब्द तक नहीं मिलते। ये अवैदिक शब्द हैं। मुख्य वैदिक साहित्यमें नवग्रह-पूजा, लिङ्ग-पूजा और देवी-पूजाका उल्लेख नहीं है। देवदासीपद्धति, मूर्ति-पूजा-पद्धति, मुहूर्त-फल, ज्योतिष, सात बार, लेखनकला, मन्दिरोंके माफीदार पुजारी, ग्राम-जोशी आदि बातें भूमध्यसागरीय मानव-संस्कृतिके ही अंग थे। नील, युफ्राटिस-तैग्रिस (दजला-फ़रात) और सिन्धु नदियोंके तीरपर बढ़ी हुई प्राचीन संस्कृतिका उत्तराधिकारत्व हिन्दू-समाजमें अब भी चालू है। यही वेदपूर्व भारतीय संस्कृति है। इसका धर्म हिन्दू धर्मका महत्त्वका भाग है। इसी धर्मकी नींवपर अखिल हिन्दुओंका समान धर्म हजारों वर्षोंसे निर्माण हुआ है।

---

(१) Ibid. P. 14.

वैदिक आर्योंका श्रौत-स्मार्त धर्म

(३) यह धर्म जिनका था वे आपको आर्य कहते थे। इन लोगोंने यहाँकी अवैदिक प्रजापर अधिकार स्थापित किया, पर वे सारे भारतपर एक साथ सार्वभौम सत्ता स्थापित न कर सके। पहले-पहल उनका स्वामित्व उत्तर भारतके पश्चिम और वायव्य भागोंमें स्थापित हुआ। फिर धीरे-धीरे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे शेष भारतीय प्रजापर भी उनका आधिपत्य फैल गया। वह दो तरहसे निर्माण हुआ। प्रत्यक्ष राज-सत्ताके द्वारा और पुरोहितोंके धार्मिक आधिपत्यके द्वारा। मूलमें ये लोग भ्रमणशील, शिकारी, युयुत्सु और पशुपाल थे। पूर्व भारतीय लोग युद्धमें घोड़ोंका उपयोग करना नहीं जानते थे। इसलिए वे इनके द्वारा जीत लिये गये होंगे। ये लोग चूँकि भटकनेवाले, पशुपालक थे, इसलिए यहाँकी कृषि-शिल्प-प्रधान स्थिर समाज-संस्थाके रूपमें रहनेवाली प्रजाको पराजित कर सके। भटकनेवाली टोलियोंमें चपलता, क्रूरता और सैनिक संगठन आदि युद्धोपयुक्त गुण बहुत बढ़े हुए होते हैं। उनमें गो-मेध, अश्व-मेध, अज-मेध आदि पशु-यज्ञोंका धर्म था। यज्ञके पुरोहितोंको दक्षिणामें गौ, अश्व, अज, मेष आदि पशु अथवा सोना, चाँदी दिये जाते थे। इससे उनका जीवन पशु-प्रधान ही जान पड़ता है। यज्ञमें भू-दानकी कल्पना उत्तरकालीन साहित्यमें दिखलाई देती है। ऋग्वेदमें भू-दानका उल्लेख नहीं है। ऋग्वेदका बहुत-सा भाग भारतमें विजय प्राप्त करके जम जानेपर निर्माण हुआ है। निसर्ग शक्तियोंमें कल्पित किये गये चेतन देवोंकी आराधना या उपासना उनका मुख्य धर्म था और यह आराधना ही यज्ञ है। ऐहिक जीवनका योग-क्षेम अच्छी तरहसे चलता रहे, इसके लिए जिन भौतिक साधनोंकी जरूरत होती है उन्हें देवताओंकी आराधनासे अर्थात् यज्ञसे प्राप्त कर लेना ही इस यज्ञ-कर्मका अर्थात् वैदिक धर्मका मुख्य ध्येय था। जादू-टोना धर्म (Magic) भी उन्हींका था। वह अथर्व-वेदमें मुख्यतासे प्रतिपादित है। काम्येष्टिसे जान पड़ता है कि यज्ञका भी प्राथमिक रूप जादू-टोना सरीखा था।

वैदिक लोग सूर्यकी उपासना सूर्य, सविता, पूषन्, मित्र और भग नामोंसे

---

(१) Vicissitudes of Aryan civilization, by M. M. Kunte, P. 525.

करते थे। ऋग्वेदमें द्यावा-पृथ्वी, वरुण, विश्व-कर्मन्, अदिति, त्वष्टा, उषस्, अश्वी, इन्द्र, ब्रह्मणस्पति, मरुत्, रुद्र, पर्जन्य, अग्नि, सोम, यम और पितर देवोंका स्तवन किया गया है। उन स्तोत्रोंमें ऋग्वेदके स्तोत्र-निर्माता ऋषि बहुत-से स्थानोंपर प्रत्येक देवकी भक्ति करते हुए उसकी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञताका वर्णन करते हैं। इन देवताओंकी मूलकी भिन्न शक्तिमत्ता ऋग्वेद-कालमें लुप्त होने लगी। इसलिए प्रत्येक देवता सम्पूर्ण परमेश्वर बनने लगा। केवल यजुर्वेदके यज्ञमें उन देवताओंका प्रथक् शक्तिमत्व गृहीत किया गया है। यजुर्वेदका ग्रंथरूपसे ग्रथन यद्यपि ऋग्वेद-संहिताके बाद हुआ होगा, तो भी उसमेंकी यज्ञ-संस्था ऋग्वेदके स्तोत्रोंसे भी पहलेसे चली आती होगी। इससे उसमें देवताओंका पृथक् व्यक्तित्व प्रकट दिखता है। अथर्व वेदमें भी ये देवता हैं। वहाँ इनका उपयोग जादूमें किया गया है। अथर्व वेदका जादू टोनेका धर्म ऋग्वेदके आर्योंका ही है। ऋग्वेदके अनेक ऋषियोंको विशेष करके वशिष्ठको जादू आता था। भृगु, अंगिरस और अथर्वन् गोत्रके आर्य जादू-टोना या जंतर-मंतरमें प्रवीण थे। उस समयका आयुर्वेद भी जादू-टोनेका था। ऐहिक या भौतिक जीवनसे नित्य सम्बद्ध रहनेवाली भौतिक महान् शक्तियोंमें ही वैदिक देवता कल्पित किये गये हैं। जिस समय अग्नि और सूर्यका शुद्ध भौतिक स्वरूप समझनेकी पात्रता मानव-मनमें नहीं थी, उस समय उसमें अद्‌भुत चमत्कृति-जनक चेतन शक्तिकी कल्पना मनुष्यने की। मित्र और वरुण ये क्रमशः दिन और रातकी जगह आरोपित देवता हैं। सवितृ वर्षा ऋतुका सूर्य है। उस समय बीजोंमें अंकुर फूटते हैं और उनकी धीरे धीरे बाढ़ होती है। पूषन् धान्य और वनस्पतिको पोषण करनेके योग्य उष्णता देनेवाला सूर्य है। बड़े सवेरे ही काम करनेको तैयार हो जानेवाले पशुपाल और कृषकोंकी प्रतिभाको अरुणवर्ण धारण करनेवाली दिशामें दिखने-वाली देवता उषस् है। इन्द्र और भगका मूल स्वरूप निश्चित करना कठिन है, परन्तु साधारण अनुमान किया जा सकता है। इन्द्र लड़ाकू, शत्रुपर एकदम हमला करनेवाला, अधिक मात्रामें सोमरस पीनेवाला, पूरेके पूरे बैल अथवा दूसरे जानवर भूनकर खानेवाला और गड़गड़ाहट करनेवाला आकाशका देव है। मरुत् यानी मारने-वाला, यह इन्द्रका सहकारी है। बाघ, भेड़िया अथवा दूसरे हिंस्र-पशुओंका शिकार करनेवाले, शत्रुके चंगुलसे अपने पशु-धनको छुड़ा लानेवाले और सोम पीकर मत्त

रहनेवाले प्राचीन आर्योंके अंगमें प्रविष्ट होनेवाला (Spirit) सामर्थ्य, जोश अथवा क्षोभ ही इन्द्र है। कभी कभी द्रष्टा ऋषियोंके शरीरमें इन्द्र आता था। इन्द्रके बनाये हुए सूक्त भी ऋग्वेदमें हैं। ऋषि जब सूक्त रचने लगे, तब उनमें इन्द्र प्रविष्ट हो गया और उसने वे सूक्त रचे, ऐसा उन ऋषियों और उस समयके लोगोंको मालूम हुआ। रुद्र पहले तूफानका देवता था और अदिति अनन्त, अखण्ड, आकाशका देवता।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, यद्यपि वेदके सभी देवताओंके भौतिक अधिष्ठानकी उपपत्ति पूरी तरहसे नहीं बिठाई जा सकती, तथापि अधिकांश देवताओंका अधिष्ठान भौतिक शक्ति ही है और इस विषयमें सभी पंडित एकमत हैं। भौतिक जीवनकी भौतिक आकांक्षाएँ पूर्ण करनेवाले साधन प्राप्त करनेके लिए ही मुख्यतः इन देवताओंकी आराधना की जाती थी। पहले भौतिक आवश्यकताओंके लिए ही धर्म और तत्सम्बन्धी कल्पना मनुष्य जातिमें निर्माण हुई। अग्नि और सूर्यपर ही बहुत-सी प्राथमिक भौतिक आवश्यकताएँ अवलम्बित रहती हैं। इसलिए वैदिक गृहस्थ उनकी नित्य उपासना किया करते थे। यही अग्निहोत्र है। जो मुख्यतः पशुपालनसे और गौणरूपमें कृषिसे जीवन व्यतीत करते थे उन आर्योंका देवताराधन अग्नि-होत्र और दर्शपूर्णमासेष्टि है। इस विधिमें गो-पालन प्रधान अंग है। इस विधिका फल स्वर्ग-लोक-प्राप्ति उत्तर-वैदिक-साहित्यमें या ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें बतलाया है। वैदिक मंत्रोंकी प्रार्थनाओंमें ऐहिक भौतिक आकांक्षाओंका ही एक-सा घोष सुन पड़ता है। उनमें अन्न, पशु, धन, शरीरेन्द्रियसामर्थ्य, भार्या, दास, वीर-पुत्र, शत्रु-नाश, रोग-निवारणकी और यज्ञविद्या-जन्य तेजकी (ब्रह्मवर्चसाकी) माँग मुख्य है। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें स्वर्ग बहुत देरसे प्रविष्ट हुआ है। पारलौकिक मरणोत्तर गतिका विचार वैदिक कर्म-काण्डमें है; परन्तु उसका ठीक विवरण वहाँ नहीं मिलता। देवयानगति, पितृयाणगति, अंध-तमस, देवलोक, पितृ-लोक, मरणोत्तर उत्तम-जन्म और निकृष्ट-जन्मका, उल्लेख वेदमें है। परन्तु उनकी चर्चा उत्तर-वैदिक-साहित्यमें विशेषतः उपनिषदोंमें अधिक है।

संस्कारोंका और आश्रम-धर्मका उल्लेख वेदोंमें है। ऋग्वेद-कालमें, ब्रह्मचारी

और गृहस्थ दो ही आश्रम रूढ़ और मान्य थे। चार आश्रमोंका उल्लेख वेदोंके अन्तके कालमें, विशेषतः उपनिषदोंमें मिलता है। एक प्राचीन आचार्यका मत गौतम-धर्म सूत्रमें (८-८) दिया है कि वेदोंको तो एक गृहस्थाश्रम ही मान्य है। वेदमें उसीका प्रत्यक्ष-विधान है; इतर आश्रमोंका नहीं। ऋग्वेदके एक दो उल्लेखोंसे जान पड़ता है कि विद्या-ग्रहणके लिए पहला ब्रह्मचर्याश्रम था। अथर्व वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें ब्रह्मचर्याश्रमका विशेषतः उपनयनका विधान विस्तारसे आया है। चार आश्रमोंका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद्में है।

वानप्रस्थ और संन्यासको वैदिक आर्योंने अवैदिक लोगोंकी संस्कृतिसे लिया है। अवैदिक लोगोंकी संस्कृतिके स्वीकारसे संस्कृत हुए वैदिक आर्योंने ये दो आश्रम बहुत ही देरसे आत्मसात् किये। वैदिक आर्योंके सुसंस्कृत होनेसे पहले इजिप्त, मेसोपोटामिया (ईराक) और भारतके अवैदिक समाजोंने सुधार और संस्कृतिको बहुत उच्चतापर पहुँचा दिया था। इस सुसंस्कृत समाजके सम्पर्कमें आये हुए विजयी वैदिकोंने पूर्व-कालीन संस्कृतिसे बहुत-सी विद्या, कला और सामाजिक आचार-विचार ले लिये। संन्यास अथवा वैराग्य-धर्म स्वीकार करने योग्य सामाजिक परिस्थिति उत्पन्न होनेपर ही वैदिकोंने उन्हें स्वीकार किया।

सोलह संस्कारोंकी कल्पना उत्तर-स्मृति-साहित्यमें ही दिखती है। अन्य स्मृतियोंकी अपेक्षा अधिक प्राचीन गौतम-धर्म सूत्र (८-१४-२४) यज्ञका भी समावेश संस्कारोंमें करता है। उसमें चालीस संस्कार बतलाये हैं। अग्न्याधान, दशपूर्णमासेष्टि, सोमयाग, पशु-बन्ध आदि यज्ञ भी संस्कार ही हैं। गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, नामकर्म, चौल, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि, आदि सोलह संस्कारोंका सम्बन्ध प्रधानतया अथर्व वेदके साथ है। अथर्व वेदके कौशिक सूत्रमें और गृह्य सूत्रमें यह संस्कार-विधि विस्तारसे बतलाई है; परन्तु प्राचीन गृह्य-सूत्रमें 'षोडष संस्कार' इस तरहका वर्गीकरण या संज्ञा कहीं नहीं मिलती। उसमें इन षोडष संस्कारोंके अतिरिक्त शूलगव जैसी जंगलीपनकी द्योतक विधि भी बतलाई है। जातकर्म, नामकरण, चौल, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि जैसे संस्कार कर्म आफ्रिका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका और पेसिफिक द्वीपोंकी पिछड़ी हुई वर्तमान् जंगली जातियोंमें भी हैं; ऐसा मानवजातिशास्त्रज्ञों और प्रवासियोंके वर्णनोंसे मालूम होता है।

वर्ण-धर्मोंका प्रारम्भ ऋग्वेदमें मिलता है। दसवें मंडलका चार वर्णोंका उल्लेख ऋग्वेदके अन्तके कालका है। ब्रह्म और क्षत्रका उल्लेख बहुत पहलेका है। इन दो वर्गोंका उल्लेख एक जगह है। आर्य वर्ण और दास-वर्ण शब्द भी आये हैं। दास-वर्ण या कनिष्ठ (अधर) वर्ण शूद्र है। सारे वैदिक-साहित्यकी आलोचना करनेसे जान पड़ता है कि वैदिक लोगोंने समाजमें जित दासोंका वर्ग निर्माण किया था। वैदिक आर्य जेता और उनके स्वामी थे। आर्योंके सत्ताधारी वर्गमें ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य ये तीन विभाग हो गये और ब्राह्मण और राजन्यके हाथोंमें सामाजिक आधिपत्यके सारे सूत्र आ गये। शूद्रों और वैदिकसंस्कृतिसे बाहरके लोगोंको वैदिकोंके आधिपत्यके नीचे पिसनेके लिए वैदिक आर्योंने सामाजिक रुकावटें और कायदे कानून बनाये। वेदोक्त यज्ञ-धर्मका अधिकार इन आर्योंने अपने पास ही रख छोड़ा। इस कल्पनाके लिए कोई जरा-सा भी ऐतिहासिक आधार नहीं है कि वैदिक लोगोंके अतिरिक्त जो प्रजा थी वह जंगली और वैदिकोंकी अपेक्षा पिछड़ी हुई थी, इसलिए वैदिकोंने उसे अधम या कनिष्ठ दर्जा दिया। वैदिकेतर प्रजा कृषि, शिल्प आदि व्यवहारोंमें कुशल थी। उसकी संस्कृतिके बड़े बड़े राष्ट्र मौजूद थे। उनमेंके कुछ राष्ट्रोंको वैदिक टोलियोंने जीत लिया और वहाँकी प्रजाको अपने अधिकारमें लाकर वर्ण-धर्म उत्पन्न किया। उसके द्वारा धन, सत्ता, मान और पवित्रताका ठेका लेनेका उन्होंने प्रयत्न किया और कृषि और शिल्प-कर्ममें प्रवीण अधिकांश (तीन-चतुर्थांश) प्रजापर शूद्र-धर्म या दास्य-धर्म लाद दिया।

वैदिकेतर प्रजाको अपने अधिकारमें लानेके लिए धर्म-कल्पना या धर्म-संस्थाका बहुत उपयोग किया गया। वैदिक यज्ञोंका उपयोग इस काममें बहुत हुआ। प्रजापतिने यज्ञार्थ[१] ही धन निर्माण किया है, ऐसी कल्पनाको उन्होंने रूढ़ किया। इससे खास खास प्रसंगोंपर शूद्र-धनका अपहरण करना धर्म्य ठहराया गया[२]। शूद्रोंके हाथसे दुहा हुआ दूधतक यज्ञके उपयोगमें लाना अपवित्र समझा जाता था[३]। शूद्र प्रजाको चाहे जो दण्ड देनेका अथवा समाजसे निकाल बाहर करनेका किसी भी वैदिक आर्यको अधिकार था[४]।

---

(१) कात्यायन स्मृति। (२) महाभारत १२–६०। (३) तैत्तिरीय ब्राह्मण ३–२–३–९। (४) ऐतरेय ब्राह्मण—यथाकामोत्थाप्यः, यथाकामवध्यः। ३५–३।

कृषि, शिल्प और उच्च-वर्णोंकी सेवा ये तीन व्यवसाय शूद्रोंके लिए निश्चित कर दिये गये। कृषि और शिल्प एक दृष्टिसे उच्च प्रकारके धन्धे हैं, परन्तु उनमें शूद्रोंकी बहुत दुर्दशा थी। क्योंकि उनके हिस्सेमें व्यवसायका फल बहुत थोड़ा आता था। जुल्मी कायदोंके जरिए वैदिक आर्य ही व्यवसायजन्य फलोंका अपहरण किया करते थे। वैदिक आर्य ब्याज (Interest), मुनाफा (Profit) और लगान (Rent) शूद्रों या कनिष्ठ वर्णके लोगोंसे उच्च-वर्णोंकी अपेक्षा बहुत ज्यादा वसूल करते थे। अर्थात् सम्पत्तिके उत्पादनमें हिस्सा न बँटानेवाले उच्च वर्णोंपर ब्याज, मुनाफा और लगानका बोझ कायदेसे ही बहुत कम पड़ता था और उत्पादक व्यवसाय करनेवाले तथा सम्पत्तिको प्रत्यक्ष रूपसे उत्पन्न करके सामाजिक जीवनकी नींव डालनेवाले शूद्रादि वर्णोंपर ब्याज, लगान आदिकी दर बहुत ज्यादा लाद दी गई थी। शूद्रोंसे वार्षिक साठ टका ब्याज और लगान लेनेका हक उच्च वर्णवालोंको था। स्मृतियोंके इस सम्बन्धके कायदे-कानून आप देखेंगे तो उक्त विधानकी सचाई मालूम हो जायगी।

वैदिकेतर लोगोंको सामाजिक दासतामें रखनेके काममें श्रौत-स्मार्त-धर्मके अनुयायियोंने वैदिक धर्मकी पवित्रताका उपयोग किया। उन्होंने दूसरोंको वैदिक धर्माचरणका या उसके स्वीकारका अधिकार ही नहीं दिया। 'व्रात्यस्तोम' नामक विधि सामवेदके तांड्य ब्राह्मणमें और कात्यायन श्रौत-सूत्रमें कही गई है। अनुमान होता है कि उसका उद्देश्य अवैदिकोंको वैदिक बना लेना है। परन्तु वह अमलमें बहुत ही कम लाई गई। पुराने धर्म-सूत्रों और स्मृतियोंमें वेदाध्ययन करनेपर शूद्रादिको प्राणदण्ड देनेकी आज्ञा है। वैदिक यज्ञ और स्मार्त धर्मसे पवित्र हुआ आर्य ही समाजका सच्चा स्वामी था। उसे यह स्वामित्व और श्रेष्ठत्व वैदिक धर्मके जन्म-सिद्ध अधिकारके कारण मिली हुई पवित्रतासे ही प्राप्त होता था। यह पवित्रता ब्राह्मणोंकी पुरोहिताईसे प्राप्त होती है, इसलिए ब्राह्मणको समाजमें श्रेष्ठ स्थान दिया गया। कुछ लोग कल्पना करते हैं कि ब्राह्मणका अर्थ है त्यागी, ज्ञानी, संयमी, तपस्वी। परन्तु श्रौत-स्मार्त कायदेके अनुसार ब्राह्मण शब्दका यह वाच्यार्थ नहीं। ब्राह्मण यदि दूसरे वर्णकी स्त्रियोंके साथ व्यभिचार करे, तो उसके लिए स्मृतियोंमें बहुत हल्के दण्डका विधान है और उनके साथ उसे विवाह करनेकी भी आज्ञा दी गई है। शूद्र स्त्रियोंको रखैलके तौरपर रखनेकी तो बड़े

बड़े धर्म-स्मृतिकारों[1] ने आज्ञा दी है। जिन्होंने नहीं दी है, वे बाकायदा कोई विशेष दण्ड भी नहीं बतलाते। इसके विपरीत यदि दूसरे वर्णका या शूद्र-वर्णका पुरुष ब्राह्मण अथवा आर्य-स्त्रीसे विवाह करता है अथवा व्यभिचार करता है, तो उसे अत्यन्त तीव्र यातनामय प्राण-दण्डका विधान है। ब्राह्मणको किसी भी अपराधके लिए प्राण-दण्ड नहीं दिया जा सकता। त्याग, संयम और तपसे विचलित हुए ब्राह्मणको तो दूसरे वर्णके समान ही दण्ड मिलना चाहिए; परन्तु वेद और स्मृतियोंमें इससे उल्टा ही है। ब्राह्मण और वैदिक आर्योंको अवैदिकोंकी अपेक्षा जन्म-सिद्ध सुभीते और अधिकार बहुत ज्यादा दिये गये हैं। श्रौत-स्मार्त्त कायदोंमें सम्पत्ति, सत्ता, भोग और सम्मानके विषयमें ब्राह्मणको जितने सुभीते हैं उतने किसीको भी नहीं हैं। उन कायदोंकी दृष्टिसे त्याग, संयम, ज्ञान और तपको कोई अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। जिस ज्ञानको महत्त्व दिया है वह वेद-विद्या या पुरोहिताईका ज्ञान है। न्याय-दानका काम कानूनके पंडित ब्राह्मणोंको पहले मिलता था, क्षत्रियों और वैश्योंको ब्राह्मण न मिलनेपर मिलता था। शूद्र चाहे कितना ही कानूनका पंडित क्यों न हो, मूर्ख ब्राह्मण उससे अच्छा है; यह सारी स्मृतियोंमें जोर देकर कहा गया है। स्मृतियोंका कायदा है कि ब्याजकी और लगानकी दर ब्राह्मणके लिए सबसे कम होनी चाहिए। पुरोहिती विद्यावाले ब्राह्मणको सारे कर माफ थे। स्मृति कहती है कि न्यायदान करनेके समय ब्राह्मणका मुकदमा पहले चलाया जाय। ब्राह्मणोंको अपनेसे नीचेके वर्णोंके व्यवसाय करनेकी आज्ञा थी परन्तु नीचेके वर्णवालोंको, विशेषकर शूद्रोंको, उच्च वर्णके किसी भी धन्धेको करनेकी मनाही थी। प्राणान्तिक आपत्तिके समय भी नीचेके वर्णवालेके लिए उच्च वर्णके उद्योग या व्यवसाय करना स्मृतियोंके अनुसार बड़ा भारी अपराध था।

ऊपर वैदिक धर्मके वर्णनमें प्रत्यक्ष वैदिक शासनका कम और स्मृतियोंके कायदोंका अधिक निर्देश किया गया है। इसलिए सम्भव है कि पाठकोंको विषयान्तर सा मालूम हो। अतः तत्सम्बन्धी खुलासा करके यह चर्चा समाप्त की जाती है। धर्म-सूत्रों और स्मृतियोंके धर्म और कायदे वैदिक आर्योंके ही थे, यह बात धर्म-सूत्रों और स्मृतियोंमें स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित की गई है। स्मृतियोंका धर्मशास्त्र

---

(१) वसिष्ठधर्मशास्त्र १८-१६।

वर्णोंके जन्म-सिद्ध उच्च-नीच भावको, अपवाद छोड़कर, सामान्य नियमके रूपमें स्वीकार करके ही प्रवृत्त हुआ है। वेदोंमें यों तो प्रत्यक्ष रूपसे यह धर्म-शास्त्र कम मिलता हैं, परन्तु इसके मूलभूत समाज-रचनाके सामान्य और विशेष सिद्धान्त मिलते हैं। वेदोंका विषय है यज्ञीय कर्म-काण्ड और उपनिषदोंका ब्रह्म-विद्या। वर्णाश्रम धर्मका सविस्तर प्रतिपादन सूत्रों और स्मृतियोंमें है। सूत्रों और स्मृतियोंका धर्म-शास्त्र अथवा सामाजिक धार्मिक रीति-रिवाज और कायदे, वैदिक आर्योंके ही हैं। वैदिक-कालमें जो कायदे और रीति-रिवाज रूढ़ होते गये उनका ही ग्रन्थ-रूपसे सूत्रों और स्मृतियोंमें संग्रह किया गया है। स्मृतिका अर्थ है वैदिक आर्योंके रीति-रिवाजोंकी, कायदोंकी और सामाजिक धार्मिक संस्थाओंके नियमोंकी स्मरण पूर्वक की गई नोंध, याददाश्त या यादी। वैदिक आर्योंके कर्म-काण्डें, देव-स्तोत्रों और ब्रह्म-ज्ञानका ग्रन्थ-रूपसे संकलन ही वेद हैं और आर्योंकी सामाजिक धार्मिक संस्थाओंके, कायदोंके, रीति-रिवाजोंके वेदोत्तरकालीन संकलन स्मृतियाँ हैं। स्मार्त धर्म-शास्त्रोंका संकलन, मंत्र-काल और ब्राह्मण-कालमें हुआ होता, तो उन्हें भी वेद कहा जाता। स्मार्त धर्म-शास्त्रोंके मुख्य भागकी इतनी पुरातन परम्परा ध्यानमें रखकर ही सूत्रकार और मनु इस बातको जोरके साथ कह सकते हैं कि स्मार्त धर्म भी वेद-मूलक और वेदोक्त है। धर्म-शास्त्रोंमें समय समयपर वेदोत्तरकालमें बहुत-सी नई बातें जोड़ी गईं और परिवर्त्तन भी हुए। यह बात स्मृतियोंसे स्पष्ट होती है। यदि पराशरस्मृति जैसी उत्तरकालीन स्मृतिको छोड़ दिया जाय, तो बाकीकी स्मृतियों और धर्मसूत्रोंकी वैदिक धर्म-संस्थाका मुख्य ढाँचा, अवान्तर फर्क और भर्तीको लक्ष्यमें रक्खा जाय तो भी, एक ही है, इसे न भूलना चाहिए। गौतम, आपस्तंब, वसिष्ठ, शंख, लिखित, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति आदि स्मृतियोंकी समाज-संस्थाका या वर्ण-संस्थाका प्रधान स्वरूप एक-सा ही है। इस वर्ण-संस्थाका स्वरूप संक्षेपमें ऊपर बतलाया गया।

वैदिक धर्मसंस्थाका स्वरूप बतलाकर अब तक उसका परीक्षण किया गया। वैदिक धर्म सारे मानवोंका नहीं, केवल आर्योंकी एक जमातका धर्म था। उसे उस जमातने हिन्दुस्तानकी अवैदिक प्रजासे अलग रख छोड़ा और अपनी जमातका श्रेष्ठत्व बनाये रखनेके लिए उसका उपयोग किया। उपर्युक्त विवरणका यही तात्पर्य है।

वैदिक आर्योंकी समाज-संस्थाका महत्त्वका भाग ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता और शूद्रोंकी दासता है। वैदिक-कालमें ही राजन्य वर्गमें ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठताके विरुद्ध प्रतीकारका आन्दोलन खड़ा हो गया था। यह आन्दोलन दो तरहका था। कुछ राजन्य ब्राह्मणत्वका हक माँगने लगे थे। विश्वामित्र और वसिष्ठके झगड़ेकी जड़में यही मुद्दा था। विश्वामित्रकी कथासे मालूम होता है कि राजन्य यह हक थोड़े बहुत प्रमाणमें, अपवादस्वरूप ही सही, उपयोगमें ला भी सके। पुराणोंमें[1] कहा है कि और भी अनेक राजन्य कुल ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो गये। दूसरा महत्त्वका विवाद ब्राह्मणोंको दूसरोंकी अपेक्षा अधिक मिले हुए सुभीतों और हकोंका था। ऐल, पुरुरवा, नहुष, वेन, हैहयकुलीन सहस्रार्जुन, वैतहव्य, सृञ्जय आदि महान् राजा और राजवंश ब्राह्मणोंके श्रेष्ठत्वके विरुद्ध लड़े। वेन राजा यज्ञ-धर्मके और ब्राह्मणोंकी दक्षिणाके विरुद्ध था। ब्राह्मणोंके लिए सारे कर माफ थे, इसके विरुद्ध हैहय और वैतहव्य राजाओंने झगड़ा[2] किया। वे ब्राह्मणोंकी गौएँ बलात्कारसे ले जाने लगे, इसका अर्थ ही यह था। उस समय पैसेके एवजमें पशुओंका विनिमयके रूपमें उपयोग होता था। परशुरामने इस हकको क्षत्रियोंका विनिपात करके फिरसे स्थापित किया। ब्राह्मण-कुल और क्षत्र-कुल, राजसंस्था और पुरोहित-वर्चस्व, इनके बीचके झगड़ोंका निर्णय महाभारतके युद्धसे ही हुआ। उसमें क्षत्र-नाश अधिक हुआ। क्षत्रिय वर्ग करीब-करीब नष्ट और भ्रष्ट हो गया। परशुरामके हाथसे जो कार्य नहीं हुआ था वह भारतीय युद्धने कर दिखाया। क्षत्रिय-वर्गके उत्सन्नप्राय हो जानेसे पुरोहितोंका स्थान समाजमें फिर दृढ़मूल हो गया।

उसके बाद ही ब्राह्मणोंने कल्प-सूत्र, धर्म-सूत्र, व्याकरणादि वेदाङ्ग, अर्थ-शास्त्र, काम-शास्त्र और मोक्ष-शास्त्र प्रगल्भतापर पहुँचाये। मोक्ष-शास्त्रका उद्गम उपनिषदोंसे हुआ। उपनिषदोंने वैदिक यज्ञों और देवताओंकी समीक्षा करके उनकी करीब करीब व्यर्थता ही ठहरा दी। इस सूक्ष्म समीक्षासे ब्रह्मवाद और मानसिक उपासनाका सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ। विविध स्थूल देवताओंकी आराधनाका स्थूल कर्म-काण्ड ब्रह्मवादके मारे दुर्बल होने लगा। यज्ञ-धर्म-विरोधी सामाजिक

---

(१) हरिवंश १।३२; महाभारत स्कंद ७।

(२) अथर्ववेद।

परिस्थितिका भी इसपर प्रभाव पड़ा। वैदिक यज्ञ-प्रधान समाज-रचनामें ही सामाजिक दौर्बल्यके बीज मौजूद थे। उनमें अंकुर फूटने लगे। वैदिक आर्योंके समीपमें सुधरे हुए अवैदिक लोगोंके अनेक उपानिवेश थे जिनमें कि यज्ञ-धर्मरहित धर्म-संस्था प्राचीन-कालसे चालू थी। उसका भी प्रभाव वैदिक लोगोंकी विचार-सरणिपर पड़ने लगा। स्थिर हुई वैदिक समाज-संस्थामें एक प्रकारकी जीर्ण दशाके चिह्न दिखने लगे। विचारसम्पन्न लोगोंने पुरानी परम्पराका पृथक्करण करना शुरू किया। नये नये विचार उत्पन्न हुए। पुराने देवताओं और धार्मिक संस्थाका बौद्धिक विदारण होने लगा। उससे ब्रह्मवाद, वैराग्य-वाद, परिव्रज्या, एकेश्वर-भक्ति आदि नवीन धार्मिक विचार प्रकट हुए।

जब ऐसी सामाजिक स्थिति उत्पन्न हो गई कि गृहस्थ-धर्म और यज्ञ-धर्मका निर्वाह कठिन होने लगा, तब उपनिषत्कालमें वैराग्य, परिव्रज्या और अरण्य-वासको ही महत्त्व और श्रेष्ठत्व देनेवाली मनन-प्रधान विचार-सरणि उत्पन्न हुई। अव्यवस्थित सामाजिक स्थितिकी विपन्नावस्थाके कारण अनेकोंके संसार उद्ध्वस्त हो गये, बिगड़ गये। योगियों और वीतरागियोंका मानसिक उपासना-मय सन्यास-धर्म ही अच्छा लगने लगा। तब वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमोंका महत्त्व बढ़ गया।

शैव, वैष्णव, बौद्ध और जैन आदि विश्व-धर्म

(४) इन धर्मोंका पुरस्कार वैदिकेतर वरिष्ठ वर्गोंने किया। पुरोहिताईसे जिनका सम्बन्ध नहीं था ऐसे राजन्य उनकी प्रस्थापनामें अगुआ बने। वैदिकोंकी ब्राह्मण-प्रधान यज्ञ-धर्म-संस्था भीतरी और बाहरी कारणोंसे जिस समय क्षीण हो रही थी लगभग उसी समय, पच्चीस सौ वर्ष पहले, इस नई धर्म-संस्थामें जोर आने लगा। वैदिक धर्मकी अपेक्षा इसका निराला बड़प्पन यह था कि इसमें सर्व मानवोंके लिए श्रेयका मार्ग खोल देनेवाली व्यापक उदार भावना थी। किसी भी परिस्थितिका, जातिका और समाजका उच्च-नीच, पतित और उन्नत मानव शुद्ध होकर धार्मिक परम पदवीको प्राप्त कर सकता है, हिन्दुस्तानमें ऐसी घोषणा करनेवाले विश्व-धर्म दूसरे समाजों और राष्ट्रोंकी अपेक्षा पहले उदयमें आये। वैदिक आर्योंद्वारा निर्मित समाज-संस्थाके विरुद्ध इन विश्व-धर्मोंने सिर उठाया। वैदिक आर्य-धर्मके अनुसार त्रैवर्णिक

आर्य ही धर्मतः पवित्र माने गये थे। वे अपनी परम्परागत पवित्रताके जोरपर अवैदिकों और शूद्रोंको हीन सामाजिक स्थितिमें पड़े रहनेके लिए लाचार करते थे और स्वयं आधिभौतिक सुखोंके हकदार और धार्मिक श्रेष्ठताके अधिकारी बनते थे। वैदिक लोगोंकी धार्मिक पवित्रताकी स्वतंत्र योजनाको और वैदिकेतर सामान्य जनताकी जन्म-सिद्ध अपवित्रताको नष्ट करनेका प्रारम्भ इन विश्व-धर्मोंने किया।

शैव और वैष्णव धर्मोंकी परम्परा वेद-पूर्वकालसे चालू थी। वैदिकेतर अनेक सुसंस्कृत संघोंमें ये धर्म चालू थे। उत्तर भारतके पश्चिम और वायव्य-विभागमें शैव और वैष्णव धर्मके नेताओंने एकेश्वर-भक्तिका जोरोंसे प्रचार करना शुरू किया। वेदकालीन वृष्णि-अंधक कुलमें वासुदेवकी भक्तिका पंथ प्रचलित था। इसीको महाभारतमें नारायणीय धर्म अथवा वार्ष्णेय अध्यात्म कहा है। सामान्य लोगोंमें काश्मीरसे बंगाल तक और हिमालयसे रामेश्वर पर्यन्त शिव-भक्ति चालू थी। उनमें भी बड़े बड़े तत्त्ववेत्ता उत्पन्न हुए। इन धर्मोंने वैदिक यज्ञ-संस्था, पशु-याग और ब्राह्मण-माहात्म्यका निषेध किया। ईश्वर एक ही है और उसकी भक्तिसे सारे मनुष्य पवित्र होकर परमेश्वर-पदको प्राप्त होते हैं; परमेश्वर-भक्तिके आगे बाकीकी धार्मिक विधियाँ व्यर्थ हैं; नीतिके आचरण और भक्तिसे ही मनुष्यका उद्धार होता है; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये सभी भगवद्भक्तिसे शुद्ध होकर मुक्त होते हैं। इस विचार-सरणिको एकेश्वर भक्तिके शैव और वैष्णव सम्प्रदायोंने महत्त्व दिया।

ये सम्प्रदाय पहले वैदिक मार्गके विरोधी थे; परन्तु जब इन्हें वैदिकमार्गीय ब्राह्मणादिकोंने स्वीकार कर लिया तब इनका वेद-विरोध शान्त हो गया। बुद्धोत्तरकालीन हिन्दू समाजमें इन्हीं धर्मोंका महत्त्व है। वैष्णव धर्मके वैदिक धर्ममें मिल जाने पर ही भगवद्गीता तैयार हुई है। इस एकेश्वरभक्ति-सम्प्रदायका आश्रय लेनेवाले लोगोंने ही पौराणिक धर्मका प्रचार किया। वैदिकेतर हीन धर्म-कल्पनाओंको तो पुराणोंने बहुत महत्त्व दिया। मुहूर्त-ज्योतिष, फल-ज्योतिष, ग्रह-नक्षत्र-पूजा, व्रत, तीर्थ, उद्यापन आदिको आगे इन्हीं सम्प्रदायोंको स्वीकार

---

(१) Vaishnaveesm and Shaiveesm by Dr. Bhandarkar

(२) शारीरभाष्य २।२ पत्यधिकरण, शंकराचार्य।

करनेवाले ब्राह्मणोंने महत्त्व देकर अपनी उपजीविकाके लिए सामान्य-समाजके अज्ञान और दैव-वादका पोषण किया।

उत्तर भारतके पूर्व-भागमें - काशी और बिहार-प्रान्तमें—वैदिकेतर सुसंस्कृत मानव-संघोंमेंसे जैन और बौद्ध ये दो नये महान् धर्म प्रकट हुए। ये भी विश्व-धर्म ही थे। कारण इनमें भी यह विचार मुख्य था कि सारे श्रेष्ठ-कनिष्ठ दर्जेके मानव संयमसे और नीतिसे शुद्ध होकर निःश्रेयसके अधिकारी होते हैं। ये धर्म अधिक पाखंडी या वेद-बाह्य नास्तिक थे। इन्होंने वेद, देव और यज्ञ तीनोंपर आक्रमण किया। ये धर्म श्रमणोंने निर्माण किये और श्रमण सत्ताधारी क्षत्रियादि वर्गके थे। ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता और उनकी रची हुई सामाजिक पद्धति बदलनेके लिए उन्होंने वेद, देव और यज्ञ इस मूल आधारपर ही कुठाराघात किया।

जैन बौद्ध और ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे जान पड़ता है कि श्रमणों और मुनियोंने मुख्य मुख्य पाखण्ड फैलाये। चार्वाक अत्यन्त मूलगामी परीक्षक पण्डित था। परन्तु महाभारतमें कहा है कि वह भी भिक्षु मुनि था। परिव्राजकों और श्रमणोंकी संस्कृति पहले वैदिकेतरोंमें उत्पन्न हुई थी। कारण उनका समाज यहाँ वैदिकोंकी अपेक्षा पुराना था। सत्ताधारी वैदिकोंकी सामाजिक पद्धतिके दुष्परिणाम पहले उन्हें अधिक महसूस हुए। उन्हें संसारकी नितान्त दुःखमयता पहले प्रतीत हुई। महाभारतके * एक उल्लेखसे मालूम होता है कि तक्षक (नागकुलीन राजा), नग्न श्रमण हो गया था। आदि पर्वकी सर्प-सत्रकी कथासे सूचित होता है कि वैदिक आर्य नागोंके वैरी थे। नागोंने जैन तीर्थंकरकी संकटसे रक्षा की और नाग तीर्थंकरके मित्र थे, ऐसा जैन-कथाओंसे मालूम होता है। बुद्धदेव गणसत्ताक पद्धतिसे रहनेवाले समाजमें उत्पन्न हुए थे। कृष्ण वासुदेव भी गणतंत्र-समाज-पद्धतिवाले वृष्ण्यन्धक कुलमें उत्पन्न हुए थे। पहले पहल वैदिकेतर समाजमें ही जटिल (जटाधारी), मुंडी (मुँड़े सिर), तापस, परिव्राजक, आजीवक, निर्ग्रन्थ, नग्न और गैरिकोंके पन्थ निर्माण हुए और फिर वैदिक लोगोंमें भी इन पंथोंका जन्म हुआ।

जब याज्ञिक पुरोहित-प्रधान वैदिक समाज-पद्धतिको उतरती कला लग गई और नये जीवनकी आवश्यकता महसूस होने लगी, तब वैदिकेतर सुसंस्कृत

* सोऽपश्यत् नग्नं श्रमणं आगच्छन्तम्।—महाभारत आदिपर्व।

समाजके लोगोंने सिर ऊँचा किया। समाजका पुरोहिताधीनत्व मिटा डालनेकी जरूरत उन्हें बहुत महसूस होने लगी। पुरोहित वर्गकी स्वार्थी और भोग-परायण प्रवृत्तिसे निर्माण हुए कर्म-काण्डका उपद्रव मिटाना आवश्यक जान पड़ने लगा। चार्वाक आदिने तो समाजका प्रत्यक्ष उपयोगी काम न करनेवाले इन ब्राह्मणोंके पारलौकिक कर्मकाण्डकी खूब ही खबर ली

उस समयकी सामाजिक स्थिति ऐसी थी। समाजके निर्वाहके लिए अत्यन्त उपयोगी गौ आदि पशुओंकी हत्या धर्मके नामसे भक्षणके लिए की जाती थी। यह यज्ञार्थ होती थी। राजन्य वर्ग आपसमें निरन्तर लड़ा करता था, इसलिए कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि व्यवसायोंकी वृद्धि नहीं होती थी। तब एक-च्छत्र साम्राज्य-संस्थाकी आवश्यकता उत्पन्न हुई। उत्पादक-धन्धे करनेवालोंके वर्गपर पोषित होनेवाला वर्ग बहुत बढ़ गया था। स्थापत्य, शिल्प, कारीगरी आदिकी निपुणता शूद्र आर हीन जातियोंमें ही थी और समाज-रचनामें उनका स्थान निकृष्ट था। इस कारण इस वर्गके हितोंकी ठीक तरहसे रक्षा करनेवाली राज्यपद्धति उत्पन्न नहीं हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि सम्पत्तिके उत्पादन और विभाजनकी ठीक व्यवस्था नहीं रही। इससे सभी समाज-घटकोंका जीवन-निर्वाह ठीक तरहसे नहीं होता था। इसके सिवाय संक्रामक रोग, दुष्काल, अतिवृष्टि आदि आपत्तियाँ और ऊपरसे आ पड़ती थीं। ऊपरसे लेकर नीचेतक दीनता और दुरवस्थाका साम्राज्य फैलने लगा। इस तरहसे निर्माण हुई सामाजिक दुरवस्थामें वैराग्यकी और शम-दमकी प्रशंसा करनेवाला, सारे संसारको ही असार माननेवाला दुःखवादी निवृत्ति-प्रधान धर्म उत्पन्न हुआ। उस समय जीवनका ज्ञान इतनी प्रगल्भ दशाको नहीं पहुँचा था कि जिससे ऐसी कल्पना उत्पन्न होती कि नई समाज-संस्था निर्माण करके सामाजिक और भौतिक जीवनकी ठीक ठीक व्यवस्था की जा सकती है। इस कारण तृष्णाके नाशको परम सत्य और ध्येय माननेवाले आध्यात्मिक विचार उत्पन्न होनेके अतिरिक्त और कोई गति ही न थी। श्रौत-स्मार्त समाज-रचनामें सामाजिक संतुलन और व्यवस्था रखनेकी पात्रता ही न रही थी। ऐहिक अभ्युदयको महत्त्व देनेवाले प्रवृत्तिपरक और इहलोकपरक विचार वैदिक परम्परामें अवश्य थे; परन्तु उतने-से विचारोंसे समाज-रचनाका प्रश्न हल नहीं होता। कुछ इस तरहकी समाज-पद्धति श्रौत-स्मार्त संस्कृतिमें निर्माण हो गई थी

कि उसमें समाजकी आधिभौतिक उन्नति एक विशिष्ट मर्यादाके बाहर होनेकी गुंजाइश ही नहीं रही थी। ध्येयवादमें केवल आधिभौतिक उन्नति और ऐहिक प्रवृत्तिवाद रहनेसे ही आधिभौतिक उन्नति और ऐहिक अभ्युदय नहीं सधता। इसके लिए सामाजिक रचनामें उसके अनुरूप परिवर्त्तन करना पड़ता है। इस दृष्टिसे श्रौत-स्मार्त समाज-रचना पूरी तरह निरुपयोगी ठहरी। वह सामाजिक प्रगतिके मार्गमें रोड़ा अटकानेवाली थी। उसकी तीव्र बन्धनों और जीर्ण-कायदोंके भारसे व्यथित हुई सामाजिक आत्मा बोल उठी—यह जीवन और यह जगत् दुःख ही दुःखमय है। दुःखके सिवाय और कुछ नहीं, ऐसा आक्रोश वह आत्मा करने लगी। भगवान् कपिल, भगवान् बुद्ध और जिन मुनि तीर्थंकरके मुखसे यही आक्रोश बाहर निकला।

प्रत्येक जीवन-विषयक तत्त्वज्ञान एक विशिष्ट सामाजिक परिस्थितिका ही परिपाक होता है। यह दुःखवादी तत्त्वज्ञान २५०० वर्ष पूर्वके सामाजिक जीवन और उस समयकी सामाजिक स्थितिकी प्रतिध्वनि है। उस स्थितिसे बाहर निकलनेकी इच्छा रखनेवाले नये मानवका वह सन्देश था। धर्म, तत्त्वज्ञान और साहित्य केवल वैयक्तिक विकार-विचार-प्रदर्शनके साधन नहीं होते। इनके रूपमें सामाजिक शक्तियों और सामाजिक झगड़ोंका बोध हुआ करता है। इस नये धार्मिक आन्दोलनके सबसे बड़े नेता बुद्धदेव थे। उनके शिष्योंमें समाजके सारे स्तरोंके लोग शामिल हुए थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, अभिषिक्त राजा, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र और स्त्रियाँ, ये सब उनके अनुयायियोंमें थे। तपुस्स और भल्लिक वैश्य थे, उपाली नाई था, काश्यपबन्धु जटाधारी, सारिपुत्र और मोग्गलान ब्राह्मण, आनन्द और देवदत्त क्षत्रिय, अम्बपाली वेश्या, चुंद लुहार, बिम्बिसारका पुत्र अजातशत्रु चक्रवर्ती राजा और मगध, कोसल, कपिलवस्तु और वैशालीके राजा बुद्धके शिष्यों और भक्तोंमें थे। बुद्धदेवकी यह परिपाटी थी कि लोगोंको उनकी बोलचालकी भाषामें उपदेश देना चाहिए। वे मगध और कोसल इन दो देशोंकी प्राकृत भाषामें धर्मोपदेश देते थे। बुद्धानुयायी जो स्थविरवादी थे उन्होंने पालिभाषामें, महासांघिकोंने पैशाची भाषामें और सामन्तीयोंने अपभ्रंश भाषा में (?) त्रिपिटक लिखे।

बुद्धदेवने प्रधानतः सत्य, अहिंसा, सादगी, मिताहार, तृष्णाक्षय और जीवनकी

क्षण-भंगुरताका उपदेश दिया। उनका मत था कि ईश्वर और जगत्के मूल कारणकी खोजके झंझटमें न पड़ना ही अच्छा है। वे किसी भी एकान्तिक पक्षको नहीं मानते थे। अपने पक्षको वे मध्यम मार्ग कहते थे। संन्यास अथवा गृहत्यागपर भी वे एकान्तिक जोर न देते थे। उन्होंने गृहस्थाश्रमको गौण नहीं बतलाया, फिर भी भिक्षुककी अवस्थाको वे ऊँचा मानते थे। उन्होंने बतलाया कि वासनाका अथवा तृष्णाका क्षय होनेसे चित्तशुद्धि होकर मोक्ष या निर्वाण प्राप्त होता है। संसारकी क्षण-भंगुरता और दुःखमयताका सिद्धान्त, और तृष्णाके क्षय होनेसे मोक्ष होता है यह सिद्धान्त भी, बुद्धोत्तरकालीन हिन्दू धर्मने पूरी तरह स्वीकार कर लिया है। गीतामें भी यह सिद्धान्त शब्दोंके कुछ हेर फेरसे बतलाया है। उसमें स्पष्ट कहा है कि यह जगत् दुःखालय और अशाश्वत है और सर्व कामनाओंका विराम ही स्थितप्रज्ञताका मुख्य लक्षण है। इस सिद्धान्तका उद्गम उपनिषदोंसे हुआ, उसे बुद्धदेवने दृढ़ किया और अन्तमें हिन्दू धर्ममें वह पूरी तरहसे मान्य हो गया। बुद्धकी कही हुई अहिंसा यज्ञ-हिंसा-विरोधी थी। उन्होंने राजधर्मका त्याग नहीं कहा।

बुद्ध जिस समय उत्पन्न हुए उस समय भारतीय समाजमें बुद्धिप्रधान विचारोंका आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। सामाजिक स्थित्यन्तरका ही वह काल था। धर्मशास्त्रीय कानून-कायदे पीछे हट गये थे और अर्थशास्त्रीय कायदे निर्माण होने लगे थे। वेद, देव, यज्ञ, समाज, जगत्, नीति, धर्म और धर्म-प्रमाण इन सबकी जड़से समीक्षा करनेवाले बुद्धिवादके प्रवर्तक आचार्य उदयमें आये। वेद, देव और यज्ञोंकी समीक्षा उपनिषदोंमें ही शुरू हो गई थी। उपनिषदोंमें देव व्यक्ति नहीं रह गया; वह एक व्यापक, निर्विकार ब्रह्मतत्त्व बन गया। यह बात बुद्धादिने विचारके अन्तमें निश्चित की कि देव कोई विचारणीय अथवा बुद्धिसिद्ध वस्तु नहीं है। कपिलादिकने ईश्वरका अस्तित्व ही असिद्ध बतलाया। वैष्णवादिकोंने यज्ञ-संस्थाका धार्मिक जीवनके लिए अनुपयुक्तत्व बतलाया। एकेश्वरवादी और निरीश्वरवादी कहने लगे कि नीति-तत्त्व ही खरा धर्म है। कुछ अर्थशास्त्रियोंने पारलौकिक अस्तित्वके विचारको सांकेतिक ठहराकर धर्म-संस्थाको ऐहिक लोक यात्राके लिए उपयुक्त एक साधन बतलाया। बस, इतना ही उन्होंने इस संस्थाका मूल्य ठहराया। महाभारतके शान्तिपर्वमें तो

सत्य, अहिंसा आदि सार्वभौम और निरपवाद जान पड़नेवाले तत्त्वोंका ही अबाध्यत्व मिटा दिया। यह कहकर कि कभी कभी असत्य और हिंसा भी योग्य ठहरती है, नैतिक दृष्टिसे मूलभूत ठहराये गये सत्य और अहिंसा तत्त्वोंका भी तर्कशास्त्रके आधारसे मानवी अनुभवका हिसाब लगाकर विदारण किया। उपनिषदोंसे लेकर षट्दर्शनसूत्रोंकी रचना होने तकके कालमें भारतीय बौद्धिक विचार उत्कर्षकी अन्तिम सीमापर पहुँच गये।

इस कालको मेक्समूलरने 'भारतीय नव जीवन-युग' कहा है। वे कहते हैं कि सिकन्दरकी चढ़ाईसे ग्रीक लोगोंके साथ सम्पर्क स्थापित हुआ और उससे यह नवजीवन आया; परन्तु यह ठीक नहीं। इस नवजीवनके आन्दोलनका सिकन्दरसे भी पहलेके डेढ़सौ वर्षोंका इतिहास उपलब्ध हो गया है। बुद्धदेव इस विशाल विचारान्दोलनके श्रेष्ठ प्रतीकरूप तेजस्वी नक्षत्र थे। सिकन्दरके एक शताब्दि पहले ही वे चमक गये थे और उनके भी जन्मके पूर्व चार्वाक बृहस्पति, उशना, कपिल, कणाद, अजितकेशकम्बली आदि बड़े बड़े तार्किक, तत्त्वज्ञ, अर्थशास्त्री और धर्म-परीक्षक हो गये थे।

इस सब वैचारिक आन्दोलनकी पार्श्वभूमिमें मौर्योंका महान् साम्राज्य स्थापित हुआ। हिन्दुओंका सबसे बड़ा इतिहास-प्रसिद्ध साम्राज्य यही था। इसका जन्म बुद्धोत्तरकालमें हुआ; परन्तु यह रोमन साम्राज्यके समान चिरस्थायी नहीं हुआ। रोमन साम्राज्यने यूरोपकी जनताके बहुत बड़े भागको एकच्छत्री राज-सत्ताके नीचे ला दिया, इससे एकेश्वरी विश्व-धर्मकी अर्थात् क्रिश्चियन धर्मकी योग्य नींव निर्माण हो गई। वहाँ क्रिश्चियन धर्मने पुराने विविध उपासना-मय, कर्मकाण्डी, मूर्तिपूजक, बहुशाख, हीनधर्मोंका (Paganism) उच्छेद कर दिया। परन्तु मौर्य-साम्राज्य जल्दी ही विदीर्ण हो गया। पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण मंत्रीने उसे हथिया लिया। तबसे फिर ब्राह्मणोंका प्रभुत्व बढ़ गया और इससे किसी भी विश्व धर्मका विजय भारतीय समाजमें नहीं हो सका। ब्राह्मण प्राचीन वैदिक धर्मको पूर्ववत् स्थापित न कर सके, इसलिए उन्होंने पुराने नयेकी खिचड़ी बनाना शुरू किया। प्रत्येक छोटे बड़े उपासना-सम्प्रदाय, निकृष्ट लोगोंके हीन-देवता और उनकी पूजा-विधियाँ,

इन सबकी एक गठरी बाँधनी शुरू कर दी। शैव, वैष्णव आदि धर्मोंको भी आत्मसात् करके उन्होंने भिक्षुकीके लिए उपयोगी मार्गपर लगा दिया।

श्रौत-स्मार्त-पुराणोक्त हिन्दूधर्म

(५) नास्तिक भौतिकवादियों और बुद्धिवादियोंका जोर कम होनेपर पाषंडोंकी प्रभावशाली विचार-सरणिको उतरती कला लग गई। बौद्ध-जैनोंने साम्प्रदायिक धर्म-पीठ, सर्वज्ञोंका शब्द-प्रमाण और नये देव निर्माण किये। इसी समय ब्राह्मण आचार्योंने श्रौत-स्मार्त धर्मका पुनरुज्जीवन किया। राज्य-संस्थामें अर्थशास्त्रीय ऐहिक कायदे यानी व्यवहार धर्म रूढ़ होना चाहता था परन्तु ब्राह्मण पुरोहितोंने पुरानी स्मृतियोंका पुनः संस्करण करके ब्राह्मणी धार्मिक कायदे यानी स्मार्त-व्यवहार-धर्म फिरसे स्थापित कर दिया और अर्थशास्त्रीय लौकिक कायदोंको दृढ़मूल नहीं होने दिया। रोमन लोगोंके बनाये हुए कायदोंपर ही वर्तमान् पाश्चात्य कायदे-संस्था खड़ी की गई है। रोमन लोगोंने सारे जगत्की संस्कृतिको कहते हैं कि कायदे-संस्थाका दान दिया है। यदि ब्राह्मणोंने अर्थ-शास्त्रीय कायदा नष्ट न किया होता, तो भारतीय कायदेका इतिहास भी वैसा ही बनता।

जैन-बौद्धोंके धर्म-पीठ बन जानेपर उनके बौद्धिक आन्दोलनके हथियार भोंथले पड़ गये। योग-मार्ग, तापसी आचार-विधि और चमत्कार-माहात्म्य बढ़ने लगे। अहदी, मुफ्तखोर, आलसी, स्वच्छन्द, भिक्षुओं, संन्यासियों, तापसियों और मुनियोंके संघ देशभरमें फैल गये। ब्राह्मणोंका स्थान समाजमें उनकी अपेक्षा अधिक स्थिर था। लोगोंके दैनंदिन जीवनके साथ ब्राह्मणोंका नित्य सम्बन्ध था। गृहस्थाश्रमी होनेके कारण लोक-व्यवहारमें उनका पूरा हाथ था। व्यावहारिक जीवनसे दूर पड़े हुए भिक्षु मुनियोंके सम्प्रदायको हतवीर्य करना उनके लिए बहुत सुगम हो गया। सामान्य लोक-समुदायमें रूढ़ हुए सब प्रकारके छोटे-बड़े पूजा-स्थानोंका, उपासनाओंका, देवताओंका, विधि विधानोंका, कथाओं और कल्पनाओंका मेल मिलाकर लोगोंके लिए रुचिकर और आकर्षक हो इस तरहसे पौराण-धर्मकी रचना ब्राह्मणोंने की। व्रत, त्यौहार, पूजा-विधि और कथाओंमें वैदिक मंत्रों और वैदिक कल्पनाओंका मिश्रण

करके उच्च-वर्णोंका कर्मकाण्ड तैयार किया। वेदपूर्व-कालसे प्रचलित मूर्तिपूजा, देवता और उनकी उपासनाको नया आकार दिया। पुरानी वर्ण-संस्थाको एक निराला ही रूप देकर जाति-संस्थाकी रचनाको चालना दी। जाति-संस्था हजारों वर्षोंसे बन रही थी। ब्राह्मणोंने उसे सहारा देकर मजबूत किया और अपना सर्वोच्च स्थान कायम किया। एकेश्वरीभक्तिके सम्प्रदायोंको भी बहुदेवतोपासनात्मक धर्ममें लपेटकर रख दिया। ब्रह्मवादका उपयोग करके सभी हीनोच्च देवताओंको प्रमाणता दे दी। उपनिषदोंके ब्रह्मवादसे वैदिक देवतागण व्यर्थ हो जानेवाले थे। पर उन्हें बादरायणके ब्रह्मसूत्रने तार दिया। तदनुसार बादरायणके उसी ब्रह्मवादी तर्कशास्त्रसे वेद-बाह्य देवताओंको जीवदान दिया गया। शीतला, चामुण्डा, काली, हनुमान, विनायक, नन्दी, भैरव, नाग, नवग्रह, उदुम्बर, अश्वत्थ, वट आदि देवता फिर जीवित हो गये। लिंग पूजामें वैदिक रुद्राध्यायका उपयोग करके भारतके प्रायः सभी लिंग-मन्दिरोंके शूद्र-पुरोहितोंके स्थान ब्राह्मणोंने हथिया लिये। वैदिकेतर देवों और मूर्तियोंके क्षेत्र या तीर्थ भी ब्राह्मणोंने आत्मसात् कर लिये। उन स्थानोंपर पहले अवैदिक ब्राह्मणेतर पुजारी थे। पर उन देवताओंको जब उच्च वर्गके लोगोंने ग्रहण कर लिया, तब ब्राह्मण ही उनके प्रमुख बन गये। वेदोंका मौलिक विरोध करनेवाले कट्टर सम्प्रदायोंको छोड़कर बाकीके सर्व धर्मसम्प्रदायोंमें ब्राह्मणोंका प्रवेश हो गया। इसलिए व्यवस्थित एकमुखी और संघटित धर्म-संस्था उत्पन्न नहीं हुई। सारे ही पंथोंको ब्राह्मणोंने न्यूनाधिक प्रमाणता दे दी। इस तरह शिथिल कन्थारूप सनातन हिन्दू धर्म निर्माण हुआ। श्रुतिमें जिसका प्रतिपादन नहीं था, उसके लिए भी श्रुतिके प्रमाणोंका पीठबल ब्राह्मणोंने तैयार कर दिया। स्मृतियोंमें जिसका आचार-मार्ग है और पुराणोंमें जिसका विस्तारसे निरूपण किया गया है, वही धर्म आज हिन्दू समाजको मान्य है।

जाति-धर्मकी सारी सामग्री स्मृतियोंमें है। भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय, स्पृश्यास्पृश्य आदि विषयोंका ऊहापोह स्मृतियोंमें है। विवाहादि संस्कार और जुदी-जुदी जातियोंके आचार-निर्बन्ध विस्तारके साथ स्मृतियोंमें प्रतिपादित हैं।

इस समयका रूढ़ हिन्दू धर्म स्मृतियों और पुराणोंमें ही अधिक अंशमें है। वेदोंमें उसका कुछ थोड़ा-सा अंश है। उपनिषदोंमें ब्रह्मज्ञान है, सांख्य-शास्त्रमें

सत्व, रजस् और तमकी कल्पना है और योगदृष्टि, त्रिकालज्ञता, समाधि, सिद्धि, चमत्कार आदि कल्पनाओंकी पोषक विचार-सरणि पतञ्जलिके योग-शास्त्रमें है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, महाभारत, ब्रह्मसूत्र, पूर्व-मीमांसा, सांख्य-शास्त्र, योग-शास्त्र और पुराण प्रचलित हिन्दूधर्मके प्रमाण-ग्रन्थ हैं।

श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त हिन्दू धर्ममें कुमारिल और शंकरका स्थान

श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त हिन्दू धर्मकी स्थापनाका प्रारंभ होनेपर हिन्दू-समाजमें क्रान्तिकारक विचार-सरणि और नवजीवन निर्माण करनेवाली हलचल उत्पन्न ही नहीं हुई। उसके बाद भारतीय समाजमें विशेष उथल-पुथल हुई ही नहीं। अनेक राज्य उत्पन्न होकर विलीन हो गये परन्तु समाज-संस्थाका सामान्य स्वरूप कायम ही रहा। यह स्थिति मौर्य-साम्राज्यके पतनके अनन्तरकी है। भारतीय समाज-संस्था एक दीर्घकालीन स्थैर्य युगमें प्रविष्ट हुई। इस युगमें काव्य, नाटक, टीका, भाष्य, अलंकार और तर्कशास्त्र बढ़ रहे थे। इसी दीर्घ युगके अन्तिम खण्डमें ईसवी सन्‌की सातवीं शताब्दिमें कुमारिल भट्ट और आठवीं शताब्दिमें शंकराचार्य उत्पन्न हुए। कुमारिलने पूर्व-मीमांसामें सूक्ष्म छान-बीनकी पद्धतिका अवलम्बन करके धर्मके प्रामाण्यकी समीक्षा की और योग-सिद्धि, त्रिकालदर्शित्व, सर्वज्ञत्व, ईश्वर आदि एकेश्वरवादियों और जैन-बौद्धोंकी कल्पनाओंको तर्क-दृष्टिसे असमर्थनीय ठहराया। साथ ही वेदोंका स्वतःप्रामाण्य बड़े भारी परिष्कारसे सिद्ध किया और धर्म-शास्त्र-निर्णयकी एक विशिष्ट पद्धति स्थापित की। इस पद्धतिकी पकड़ उत्तरकालीन धर्म-शास्त्रोंपर इतनी व्यवस्थित बैठी कि पंडित इस पद्धतिसे ही तबसे अब तक, १२०० वर्षों तक, धर्मव्यवस्था करते रहे। कुमारिलको वैदिक प्रवृत्ति-धर्मका, यज्ञमार्गका और स्मार्त गृहस्थाश्रम धर्मका पुनरुज्जीवन करके संन्यास और निवृत्ति मार्गका निराकरण करना था, परन्तु वह उनसे न हो सका, शंकराचार्यके दिग्विजयसे कुमारिलकी इच्छा विफल हो गई। इससे पूर्व-मीमांसाको गौण-स्थान मिला। कुमारिल भट्ट द्वारा सिद्ध किये गये शब्द-प्रामाण्यसे अवश्य ही सारे हिन्दू पंडितोंकी बुद्धि मुग्ध हो गई। शंकराचार्यने भी उसीको स्वीकार किया। कुमारिल भट्टने योगचमत्कार, सर्वज्ञत्व, ईश्वर आदि

कल्पनाओंका एक हाथसे तर्कशास्त्रदृष्ट्या निराकरण किया परन्तु दूसरे हाथसे वेद-स्मृति-पुराणोंका स्वतःप्रामाण्य सिद्ध करके उन्हीं कल्पनाओंके लिए अन्धश्रद्धाकी मजबूत नींव डाल दी। क्यों कि योग-सामर्थ्य, त्रिकालज्ञता, सिद्धि, चमत्कार, देवता आदि कल्पनाओंके तो वेद-स्मृति-पुराण भण्डार ही हैं। कुमारिल भट्टने जिस प्रवृत्तिवादकी वकालत की, वह श्रौत-स्मार्त प्रवृत्तिवाद था; बुद्धिवाद और भौतिकवादपर आधारित प्रवृत्तिवाद नहीं। वह श्रौत-स्मार्त-प्रवृत्ति-वाद कई शताब्दियोंके पहले ही निसत्त्व और व्यर्थ हो गया था। कारण यज्ञ और वर्ण-संस्था निरर्थक हो गई थी। दैनंदिन सामाजिक जीवनकी दुरवस्था और दीनता विचारवानोंके मनको लगातार छल रही थी। शिथिल राज्य-संस्था, अव्यवस्थित कारबार और जुल्मी स्मार्त कायदोंके कारण और राजाओं, पुरोहितों, सरदारों और सेठोंके अनिर्बन्ध अधिकारोंके कारण व्यापारी, कारीगर, और किसान त्राण-रहित जीवन व्यतीत कर रहे थे। सम्पत्तिका उत्पादन करनेवाले वर्ग ही जीर्ण दशा और दुरवस्थासे ग्रस्त हो गये। इसके कारण उच्च वर्गके लोगोंमें दुराचार बढ़ गया और वे पतित हो गये। विवेकियोंके लिए संसारमें उदासीनता-के सिवा दूसरा मार्ग ही नहीं रह गया। सब ओर ही अगतिकता थी। उस अगतिकताका ही तत्त्वज्ञान शंकराचार्यका मायावाद और संन्यासवाद है।

शंकराचार्यकी बौद्धिक और मानसिक संस्कृति अत्यन्त श्रेष्ठ दर्जेकी थी। उन्होंने अपने कालतकके परम्परासे प्राप्त सारे तत्त्वज्ञान और विचार-सम्प्रदाय बुद्धिकी कसौटीपर कस डाले। उन्होंने सिद्ध किया कि ईश्वरकी, जगतकी और आत्माकी प्रत्येक बौद्धिक साधक-बाधक उपपत्ति सदोष है। विश्वविषयक अथवा वस्तु-विषयक प्रत्येक उपपत्ति विशिष्ट मर्यादाके बाहर तर्कदुष्ट हो जाती है। यह सिद्ध करके उन्होंने सारे विचार-मार्गोंकी बौद्धिक अगतिकता सिद्ध की। शैव-वैष्णवोंका एकेश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद, कणादका और नैयायिकोंका परमाणुवाद, सांख्योंका जड़-प्रकृतिवाद, बौद्धोंका क्षणिकवाद और विज्ञानवाद, जैनोंका अनेकान्तवाद, चार्वाकका देहात्मवाद और योगियोंका योगदर्शन आदि विचार-सरणियोंका अनुपपन्नत्व तर्क-दृष्टिसे साधा। स्वतःका ब्रह्मवाद भी तर्कवादसे, मानव-बुद्धिसे निश्चित नहीं हो सकता, ऐसा दिखलाया। कहा कि बुद्धिसे आत्मा और पुनर्जन्मका निर्णय नहीं हो सकता। सारे मानवी

विचार जीवन और विश्वसम्बन्धी सत्यकी खोज करते करते कुंठित और परि-भ्रान्त हो जाते हैं, ऐसा दिखलाकर शंकराचार्य मायावादपर जा पहुँचे। वस्तु-विषयक सारे विचारोंकी अगतिकता मायावादकी मातृभूमि बन गई। वस्तु अनिर्वचनीय है, इसलिए वस्तुके विषयमें अस्तिपक्षी, नास्तिपक्षी और उभयपक्षी कुछ भी उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसलिए वह मिथ्या यानी भ्रान्तिमय ठहरती है। अवश्य ही यह विश्वका मिथ्यात्व श्रुतियोंके प्रामाण्यको माने बिना सिद्ध नहीं किया जा सकता था। श्रुतिने कहा है--ब्रह्म ही सत्य है। इसलिए ही शंकराचार्य कह सके कि विश्व मिथ्या है। शंकराचार्यका मायावाद कुंठित विचार-सरणिका और अगतिकताके भँवरमें पड़ी हुई बुद्धिका फल है। बौद्धिक चक्करमेंसे बाहर न निकल सकनेवाले हिन्दू दार्शनिकोंके तत्त्वज्ञानका वह पर्यवसान है।

शंकराचार्यने देखा कि हमारी धर्म-संस्था ब्रह्मवाद, मायावाद, मानव बुद्धिकी समीक्षक प्रमाण-पद्धतिसे सिद्ध नहीं हो सकती, तब उन्होंने श्रुति-प्रामाण्यका आश्रय लिया। इसका अर्थ यह हुआ कि उपनिषत्कालसे लेकर विकसित होनेवाले भारतीय बुद्धिवाद और तत्त्वज्ञानको शब्द-प्रामाण्यकी शिलाके नीचे पूरी तरहसे जीते जी समाधि दे दी और उसका अन्त कर दिया। दर्शन अथवा तत्त्वज्ञान वस्तुकी अथवा विश्वकी मानव-बुद्धिसे की हुई छानबीन है। मनुष्यके प्रयत्नसे नित्य विकसित होनेवाली वस्तु-समीक्षाको हजारों वर्ष पहलेके वैदिक मानवोंकी बुद्धिसे निर्माण हुई चार पुस्तकोंके (वेदोंके) प्रामाण्यसे जकड़ डालनेका प्रयत्न शंकराचार्यने किया और पुराने वैदिक लोगोंकी उस मर्यादित अपूर्ण बुद्धिको पूर्णत्व अर्पण करके बौद्धिक विकासकी जड़ें ही उखाड़ डालीं। भारतीय समाज-संस्थाका जिस समय विकास ही रुक गया और जीर्णता शिथिलता और दुरवस्थाके कारण समाजमें कोई भी आशा न रह गई, उस स्थितिमें शंकराचार्य जैसे अलौकिक बुद्धि और विशाल प्रतिभावाले पुरुषके तत्त्वज्ञानका उस स्थितिके अनुरूप यदि इस प्रकारका पर्यवसान हुआ तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। उस समय यदि विज्ञान युगका आरम्भ होने योग्य अनुकूल समाज-दशा होती, तो शंकराचार्यके प्रखर तर्कशास्त्रसे विदीर्ण हुए तत्त्वज्ञानके विनाशसे नवीन तर्कशास्त्र और नवीन भौतिकवाद उत्पन्न हुआ होता।

सारे अध्यात्मवादी तत्त्वज्ञानोंकी सर्वांगीण जाँच करनेपर इसके सिवाय और कुछ भी निष्पन्न नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें या तो शून्यवाद, संशयवाद और मायावाद उत्पन्न होता है अन्यथा ऊँचे दर्जेका तर्कवाद और भौतिकवाद अवतरित होता है। उस समयकी सामाजिक परिस्थिति विज्ञानके अनुकूल नहीं थी इसलिए उल्टा मायावाद उत्पन्न हुआ और सारा बौद्धिक पराक्रम व्यर्थ गया। समाजको दुर्गतिके दीर्घ घने अंधकारसे ग्रस्त करनेके बाद निद्रा और दुःस्वप्न ही तो तत्त्वज्ञानके परिणाम निकल सकते हैं और दूसरा निकल ही क्या सकता है?

अन्तमें संसारसे विरक्ति, ईश्वर-शरणता और अनन्य भक्ति यही धर्म-रहस्य बाकी रह गये[1]। बारहवीं शताब्दिसे लेकर हिन्दू राज्योंके अन्त होने तक मायावाद, भक्तिवाद और जातिभेदात्मक आचरण, यही सच्चा हिन्दूधर्म बन गया। मुसलमानों, मराठों और अँगरेजोंके राज्यमें भी यही अव्याहत रूपसे चलता रहा।

अँगरेज़ोंके राज्यमें नये शास्त्रोंके आधारसे पुराने सामाजिक रीति-रिवाजोंका पूरा या अंशतः समर्थन करनेवाले अनेक प्रतिगामी विचार-सरणिके लोग उत्पन्न हुए और अब भी हो रहे हैं। प्राचीन परम्पराका जीर्णोद्धार करनेकी प्रवृत्ति ही भारतीय राष्ट्रवादकी नींव बन गई है और पूर्व-परम्पराका अभिमान राष्ट्रवादका मुख्य अंग बन गया है। इस प्रतिगामी राष्ट्रवादका अंगीकार करनेवाले कुछ लोगोंने पुराने जाति-भेदका आधुनिक वंश-शास्त्रके आधारसे समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया है। थोड़ेमें उसकी भी चर्चा कर ली जाय।

जाति-भेद, चातुर्वर्ण्य और वंश-भेद

कुछ लोग यह प्रतिपादन करते हैं कि आधुनिक मानव वंश-भेदोंका और चातुर्वर्ण्य और जाति-भेद-संस्थाकी वंश-कल्पनाओंका परस्पर सम्बन्ध है। परन्तु यह ठीक नहीं है।

(१) आधुनिक शास्त्रोंमें बतलाई गई मस्तिष्क-रचना, नाकके आकार, चेहरेके प्रकार, आँखोंकी विशेषता, बालोंका, अन्तर, त्वचाके रंगोंकी विविधता, रक्तके तीन भेद, ऊँचाई आदि शारीरलक्षणोंका विचार करके वंश-भेद ठहरानेका प्रयत्न चालू

(१) गीताभाष्य, शंकराचार्य १८।६६

है। मस्तिष्क, चेहरा, नाक, आँख, बाल, चमड़ेका रंग, ऊँचाई और रक्तके जो भेद वंश-शास्त्रने ठहराये हैं उनमें परस्पर सापेक्षता बहुत कम है। काले, गोरे, पीले, गुलाबी, पिंगट चमड़ेके मनुष्योंकी आँखोंकी रचना अथवा मस्तिष्क की बनावट उन उन रंगोंके अनुसार अमुक प्रकारकी ही होगी ऐसा नहीं ठहराया जा सकता। इसी तरह अन्य विशेषताओंके विषयमें भी यही बात कम ज्यादा प्रमाणमें कही जायगी। ऐसा अनुभवमें आने लगा है कि उष्णता, शीतलता, हवा, पानी, अन्न, श्रम और व्यवसायके भेद आदि अन्तर्बाह्य परिस्थितियोंके कारण शारीर-लक्षणोंमें परिवर्तन होता है। वंश-भेदका महत्त्वका लक्षण मस्तिष्क-रचना है। परन्तु चार छह पीढ़ियोंमें उसमें भी देश-कालकी परिस्थितियोंके कारण फर्क पड़ जाता है। इस बातको फ्रांझ बोआस नामक अमेरिकन मानव-जाति-शास्त्रज्ञने और दूसरे पंडितोंने भी अनेक मानव-समूहोंका अध्ययन करके दिखलाया है।

(२) बालोंका रंग, घुंघरालापन, लम्बाई, रूखापन अथवा मृदुता, चमड़ेकी गोराई, कालाई, ललाई और पीलाई, मस्तकके जुदे-जुदे आकार, नाक नुकीली, सीधी, ऊँची, मोटी, चपटी, फैली, फूली अथवा गरुड़सरीखी, रक्तके तीन भेद, इन सबका और चातुर्वर्ण्यके गुण-कर्म-विभागोंका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऊपरके किसी भी शारीर लक्षणसे श्रुति-स्मृत्युक्त ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व और शूद्रत्व निश्चित करना अशक्य है। इन शारीरिक लक्षणोंके साथ श्रुति-स्मृत्युक्त मानसिक गुणोंका सम्बन्ध भी कुछ निश्चित नहीं है।

(३) आर्य कहलानेवालोंको अपने वंश-श्रेष्ठत्वका बहुत गर्व है परन्तु अब यह बात निश्चित रूपसे शास्त्रज्ञोंको मालूम हो गई है कि आर्य संस्कृतिका और विशिष्ट लक्षणोंके वंशोंका कोई नाता-रिश्ता नहीं है। जिन लोगोंमें आर्य-संस्कृति पाई जाती है उनमें एक जैसा वंश-वैशिष्ट्य है, ऐसा बिलकुल नहीं ठहराया जा सकता। इतना ही नहीं बल्कि मानव-वंश-शास्त्रीय तत्वोंके अनुसार आर्य-संस्कृतिके समूहोंमें अनेक प्रकारके वंश सहज ही मिल जाते हैं। उन तेलगू ब्राह्मणोंमें जिनमें महान् वैदिक घराने अद्यापि मौजूद हैं और कोचीन-प्रान्तके शूद्र संस्कृतिके कल्ल और इल्लुव लोगोंके बीच वंश-सादृश्य साबित किया जा सकता है। इन तेलगू ब्राह्मणोंके वंश जैसे ही लोग उत्तर भारतके और पंजाबके चमार आदि हैं। गुजरातके नागर ब्राह्मणों, बंगाली कायस्थों और कर्नाटकके

ब्राह्मणेतरोंमें भी वंश-साम्य है। वायव्य सीमाप्रान्त और हिमालयके काफिरों और पठानों, पंजाबी सिक्खों, और संयुक्तप्रान्तके कुछ ब्राह्मणोंमें वांशिक एकताके लक्षण मिलते हैं। महाराष्ट्रके चित्पावनोंमें, पठानों और काफिरोंका गुलाबी रंग और कंजी आँखें मिलनेपर भी उनके मस्तिष्ककी रचना, ऊँचाई और दूसरे वंश-लक्षण महाराष्ट्रके देशस्थ[1], कराड़े[2], मराठे, महार[3] आदि बहुजनसमाजके वंशके ही है[4]। वंश-दृष्टिसे महाराष्ट्रकी बहुत-सी जातियोंके जो समान लक्षण हैं वही चित्पावनोंमें भी हैं।

(४) यदि वर्तमान जंगली मनुष्योंके वंशीय लक्षण छोड़ दिये जायँ, तो भारतके मानव-समूह महत्त्वके तीन वंशोंके संस्कारोंसे बने हुए दिखते हैं। यूरोप, पश्चिम एशिया, आस्ट्रेलिया, और चीनमें मिलनेवाले वंश-भेदोंके अंश भारतमें मिलते हैं। उनपरसे सांस्कृतिक उच्च-नीचताकी और मानसिक गुणोंकी परख बिलकुल ही नहीं हो सकती।

(५) जो आर्यवंशी होनेका अभिमान करते हैं उन्हें यह एक महत्त्वकी बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि आर्य संस्कृतिका निर्माण करनेवाले लोग जब कि जंगली अवस्थामें थे तब इस भूगोलपर अत्यन्त उच्च संस्कृतिके निर्माण करनेवाले कई समाज हो गये हैं और इस समय मौजूद हैं। चीन, मिसर, क्रीट, पेलिस्टाइन, अरबस्तान, ईराक आदि देशोंका प्राचीन इतिहास यही कहता है। आर्य कहलानेवालोंने एक समय जंगली वृत्तिसे और पाशविक उत्साहसे श्रेष्ठ संस्कृतियोंको नष्ट करनेमें भी कमी नहीं की है। मिसर और सुमेरका इतिहास यही बतलाता है।

(६) चार वर्णोंका वंश-शास्त्रमें बतलाये हुए वंशोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। भौतिक साधन और भौतिक उत्पादन-पद्धति बदली कि संस्कृति बदल जाती है। यदि एक मानव-वंश अपनी भौगोलिक परिस्थितिके कारण लोहेकी खोज न कर सका और दूसरे मानव-वंशको बेशुमार लोहा मिल गया, तो वह शस्त्रास्त्रोंसे सम्पन्न हो जाता है, उसकी सैनिक व्यवस्था बहुत सुधर जाती है और तब वह

१-२ दक्षिणी ब्राह्मणोंकी जातियाँ। ३ चमार जैसी नीच गिनी जानेवाली एक जाति। ४ Census Ethnography, India, 1931 P. 27 by Guha.

अपनेसे भी अधिक शूर, साहसी, परिश्रमी लोहरहित वंशोंका पराभव करके उन वंशोंको अपने अधिकारमें लाकर उन्हें शूद्र-संस्कृतिका बना सकता है। बहुतसे क्षत्रिय और मराठे अँगरेजी राज्यमें अपना क्षत्रियत्व गँवाकर शूद्र हो गये हैं। इसका कारण यह नहीं है कि अँगरेज वंश-दृष्टिसे उच्च-श्रेणीके क्षत्रिय थे, बल्कि यह है कि अँगरेजोंकी सैनिक संस्कृति अर्थात् शस्त्रास्त्र और युद्ध पद्धति अधिक सुधरी हुई थी। इतिहास कहता है कि घुड़सवार सेनावाले मानव-समूह घुड़सवारोंसे अपरिचित किन्तु शूरवीर मानव-समाजोंको जीतकर और शूद्र बनाकर स्वतः राजन्य और ब्राह्मण बन गये हैं। गुणकर्मसे जो ब्राह्मण हैं परिस्थिति बदलनेपर वे क्षत्रिय या शूद्रकर्मी बन जाते हैं। उत्तर भारतके विशेषकर संयुक्तप्रान्त, पंजाब, राजपूताना और सिन्धके ब्राह्मण बहुत बड़ी तादादमें इस समय शूद्रकर्मी बने हुए दिखते हैं। ये केवल अपवादात्मक उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं। बड़े बड़े मानव समूह एक तरहकी वर्ण-संस्कृतिका और धन्धेका त्याग करके अन्य वर्णोंकी संस्कृति और धन्धे पकड़ लेते हैं। इसका कारण वंश-स्वभावोंका उत्कर्षापकर्ष या वंश-संकरता जरा भी नहीं है। यह सहज ही सिद्ध किया जा सकता है कि राजकीय और आर्थिक परिस्थितिके कारण ही ये स्थित्यंतर होते हैं।

(७) ऐसा एक भी प्रमाण मानव-जातिके इतिहासमें ढूँढ़नेसे नहीं मिलता है जिससे यह कहा जा सके कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके गुण-कर्म स्वाभाविक जननसिद्ध विभक्त वंशोंपर अवलम्बित हैं। इतिहास तो यही कहता है कि एक ही मानव-वंशके गुटमें नई सांस्कृतिक परम्परा उत्पन्न होती और पुरानी बदल जाती है। इन बातोंका नैसर्गिक भिन्न वंशोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है और ये गुण-कर्म परस्पर विरुद्ध भी नहीं हैं। ऐसे हजारों मनुष्य हैं जिनमें ज्ञान, संयम, शौर्य, शारीरिक श्रम, सहिष्णुता और धनार्जनशीलताका संगम हुआ है। शौर्य क्षत्रियोंका, ज्ञान और संयम ब्राह्मणोंका, धनार्जनशीलता वैश्योंका और शारीरिकश्रमप्रियता शूद्रोंका गुण है, यदि ऐसा कहा जाय तो उनमें परस्पर विरोध रहता है, यह बिल्कुल सिद्ध नहीं हो सकता। इस तरह चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था और जातिसंस्था वंश-शास्त्रपर खड़ी की गई व्यवस्था है, इसके लिए एक भी शास्त्रीय प्रमाण नहीं है।

अँगरेजी अमलदारीमें हिन्दुओंमें धर्म-विषयक नये आन्दोलन शुरू हुए। अँगरेजोंके समागमने भारतकी समाजस्थितिमें क्रान्ति ही कर डाली। नवीन विज्ञान-युग, कारखानोंका युग और यन्त्र-युगको साथ लेकर यानी पाश्चात्योंके सुधार-युगको लेकर अँगरेज यहाँ आये और उन्होंने राज्य स्थापन किया। भारतीय समाज-रचनापर इसका मूलगामी परिणाम हुआ। हिन्दू-समाजमें जो विचारशील लोग थे उन्होंने यह देखकर कि नवीन परिस्थितिके साथ प्राचीन धर्म-कल्पना और आचार मेल नहीं खाते, धार्मिक और सामाजिक परिवर्तनों और सुधारोंका प्रारंभ किया। कुछ लोगोंने तो नये ही धर्म-सम्प्रदाय स्थापित कर डाले और कुछने नये सम्प्रदाय न निकाल कर आचार-विचारोंमें ही परिवर्त्तन लानेका उपक्रम किया। नये शिक्षितोंमें ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज अधिक प्रभावशाली होने लगे। ब्रह्मसमाजमें अनेक प्रकारके विश्वासों और वादोंको बहुत ही थोड़ा स्थान है, एकेश्वरभक्ति, नागरिक धर्म और नीतिका ही प्राधान्य है। तरह तरहकी धार्मिक झंझटें उसमें नहीं हैं; वह सरल सम्प्रदाय है। परन्तु ब्रह्मसमाजका जोर जल्दी ही समाप्त हो गया। थोड़ेसे शिक्षित शहरवासियोंको छोड़कर बाहर उसे कभी महत्त्व नहीं मिला। आर्यसमाजका प्रभाव पंजाबमें बहुत बढ़ा। इस संस्थाने उत्तर भारतमें सामाजिक और धार्मिक सुधारके कार्यमें ब्रह्मसमाजकी अपेक्षा बहुत प्रगति की। नया सम्प्रदाय स्थापित न करके सामाजिक परिवर्त्तन करनेवालोंमें दो दल हो गये। एक बुद्धिवादी सुधारकोंका और दूसरा अध्यात्मवादी धार्मिकोंका। बुद्धिवादी सुधारकोंने पुराने आचार-विचारोंकी नये समाज-शास्त्र और विज्ञानके आधारसे समीक्षा करके सफेद[1]पोशोंके आचार-विचारोंमें थोड़ा बहुत परिवर्त्तन करनेका प्रयत्न किया। उन्होंने प्रौढ़-विवाह, पुनर्विवाह, सम्मतिवयका निर्बन्ध, जाति जातिमें रोटी व्यवहार आदि बातोंको महत्त्व दिया। अध्यात्मवादी धार्मिक नव-शिक्षितोंमेंसे कुछने तो पहले इन बुद्धिवादी सुधारकोंके पैर पीछे खींचनेमें कमी नहीं की और सस्ती लोकप्रियताके पीछे लगकर पुरानी परम्पराका गलत समर्थन करके सुधार-

हिन्दू धर्मके आधुनिक संस्करण

---

१ मूलमें 'पांढरपेशा' शब्द है। दक्षिणमें ब्राह्मण, कायस्थ, सुनार, लुहार कसेरे आदि जातिके लोग जो 'खेती' नहीं करते पांढर पेशा कहलाते हैं।

कोंके प्रयत्न नष्ट करनेमें भी ये अगुए बने। इन अध्यात्मवादी शिक्षितोंकी परम्परा गत पचास वर्षसे अविच्छिन्न रूपमें चालू है। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, लो० तिलक, महात्मा गाँधी, सर राधाकृष्णन् आदि अध्यात्मवादी शिक्षित हैं। इन्होंने पुराने हिन्दू धर्मको और धार्मिक तत्त्वज्ञानको चमक देनेका प्रयत्न किया है। इनकी गणना बुद्धिवादी सुधारकोंमें करना भूल है। कारण ये लोग ईश्वर-साक्षात्कार, योगदृष्टि, विभूतिवाद, अवतारवाद आदि बातोंके समर्थक हैं।

आर्यसमाज और वेदधर्मका पुनरुज्जीवन

आर्यसमाज वेदोंकी प्रमाणता स्वीकार करके और स्मृति-पुराणोक्त धर्मका त्याग करके निर्माण हुआ पंथ है। यह वेदोंके ब्राह्मण भागको वेद नहीं मानता। इस पंथवालोंने समझ रक्खा है कि केवल मंत्र-भाग ही सच्चा वेद है। चूँकि ब्राह्मण-भागका विस्तृत कर्म-काण्ड इस युगमें अत्यन्त मूर्खतापूर्ण जान पड़ता है, इसलिए उन्होंने उसका वेदत्व ही निकाल फेंका। इस पंथके मुख्य आचार्य स्वामी दयानन्दने वेदोंका नया अर्थ लगाया है। उन्होंने वेदोंको एकेश्वरवादकी पोशाक दी है। मंत्रभागमें जहाँ पशुयज्ञका प्रकरण आता है वहाँ उसका रूपकात्मक अर्थ बिठाया है। स्वामी दयानन्दकी दृष्टिसे वेद पूर्ण प्रमाण हैं।

स्वामी दयानन्दने अत्यन्त प्राचीन वेद-मंत्रोंका बड़ी खींचतानके साथ अर्थ करके वेदोंको नये युगके अनुरूप बनानेका व्यर्थ घटाटोप किया है। वेदोंकी गई बीती कल्पनाओंका पुनरुज्जीवन करके नये समाज-जीवनके लिए उपयोगी नवीन अर्थ निर्माण करनेके प्रयत्नमें बौद्धिक दृष्टिसे स्वामीजीको जरा भी यश नहीं मिला। आर्यसमाज एक तरहसे इस्लामकी प्रतिक्रिया है। एक देव, एक वेद और एक धर्मका सन्देश नवीन युगके अनुरूप हो नहीं सकता। बारह सौ वर्ष पहले मुहम्मद साहबने जो सन्देश अरबोंको दिया वैसा ही सन्देश अन्धानुकरणसे इस विज्ञान-प्रधान युगमें देना अत्यंत अप्रासंगिक है।

कुछ लोग कहते हैं कि मूल वैदिक धर्मका पुनरुज्जीवन करनेसे हिन्दुओंका सच्चा उत्कर्ष होगा। बुद्ध-पूर्व धर्मका सन्देश देनेसे हिन्दू पहले जैसे पराक्रमी बनेंगे। परन्तु यह एक ऐतिहासिक असत्य है कि बुद्धोत्तर कालमें हिन्दू दुर्बल

और हीन बन गये थे। वास्तवमें बुद्धोत्तरकालमें ही हिन्दुओंके तीन चार बड़े बड़े साम्राज्य हुए हैं। उतने बड़े साम्राज्य बुद्ध-पूर्व कालमें कभी थे, इसका इतिहासमें कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि वेदोंकी कल्पनाओंसे तो हिन्दू आगे और भी अधिक निकृष्ट बनेंगे, कारण वेदोंके सृष्टि-विषयक और समाज-जीवन-विषयक विचार अत्यन्त ओछे और भ्रामक हैं। सृष्टि और समाज-सम्बन्धी भ्रामक विचारोंको माननेसे मनुष्य दुर्बल ही अधिक बनेगा। कारण, सृष्टि और समाजके कार्यकारणभावका यथार्थ ज्ञान ही मनुष्यको अधिक पराक्रमी और समर्थ बनाता है। यह सच है कि वेदोंमें ऐहिक जीवनको, प्रवृत्तिवादको और भौतिक साधनोंको बहुत महत्त्व दिया है; परन्तु साथ ही निसर्ग-शक्तियोंमें अनेक देवता रहते हैं और उनकी लीला-लहरसे सृष्टिमें गठन और विघटन होता है, यह महान् अज्ञान भी उनमें भरा हुआ है। इसी तरह उनमें देवताओंकी आराधनाका शुष्क और व्यर्थ कर्मकाण्ड अथवा यज्ञ है। उस सव्यापसव्यका और आडंबरका इस समय अपनी संस्कृतिके साथ जरा भी मेल नहीं बैठ सकता। उनमेंके देवरूप और देवचरित्र आजकलके ज्ञान और नैतिक कल्पनाओंसे बिलकुल बेमेल हैं। वर्तमान् विज्ञान और समाज-शास्त्रके साथ तुलना करनेसे मालूम होता है कि वैदिक धर्म अनाड़ी समाजका था। वेदोंकी श्रेष्ठता उस कालमें ही शोभा देनेवाली और उस परिस्थितिके अनुरूप थी। उन वेदोंकी इस समयकी सुधारणा और संस्कृतिके साथ तुलना न करना ही अच्छा है। भास्कराचार्यका गणित वर्तमान् गणितके सामने बिलकुल अपूर्ण और क्षुद्र दिखता है, फिर भी उसकी ऐतिहासिक योग्यता और महत्ता कम नहीं है। यही दशा वेदोंकी है। वेद, उपनिषद्, गीता और दर्शनोंका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है, परन्तु वर्तमान् जीवनमें उन्हें मार्ग-दर्शक बनाना आत्मघाती ही ठहरेगा।

---

(१) ब्रह्मयज्ञ, पितृतर्पण, श्राद्ध आदि धार्मिक विधियोंमें जनेऊ कभी दाहिने कंधेसे (अपसव्य) और कभी बाँयें कंधेसे (सव्य) लटकता रखना पड़ता है। इस कर्मको सव्यापसव्य कहते हैं। इससे इस शब्दका अर्थ होता है व्यर्थका त्रास या जान बूझकर अपने सिर लिया हुआ उपद्रव।

गीताके प्रवृत्तिमार्गने और अध्यात्म योगने बहुतसे शिक्षितोंको अपनी ओर आकर्षित किया है। अनेक आधुनिक पंडितों और नेताओंने गीतापर भाष्य, रहस्य, विवरण और टिप्पण लिखकर उसमेंसे नवीन हिन्दू-धर्मका उद्बोधक सन्देश निकालनेका प्रयत्न किया है। इस विषयमें पहली बात यह ध्यानमें रखनी चाहिए कि गीताका तत्त्वज्ञान क्यों प्रमाण है। गीता कहती है इसलिए या वह विचारोंकी कसौटीपर ठीक उतरता है, इस लिए? इसी तरह गीताके समस्त विचारोंकी क्या परस्पर ठीक संगति बैठ जाती है? गीताके विचारोंमें अनेक उलझनोंके विषय आये हैं। पुनर्जन्म, निर्विकार गुणातीत आत्मा, परमेश्वर, और कर्म-विपाक ये गीताके मूलभूत सिद्धान्त हैं। ये तर्कशास्त्रके नियमानुसार मानव-बुद्धिके द्वारा निश्चित नहीं किये जा सकते। गीतापर जिनकी श्रद्धा है उन्हें वे सिद्धान्त अपने आप मान्य हैं अथवा जिन्हें स्वयं ही वैसा अलौकिक अनुभव हुआ है उन्हें मान्य हैं। परन्तु जिन्हें शब्द-प्रमाणपर श्रद्धा नहीं है अथवा जिनमें यह कहनेका अलौकिक साहस नहीं है कि हमें वैसा अलौकिक अनुभव हुआ है उन्हें गीताके ये मूलभूत सिद्धान्त कैसे जँचेंगे? गीतामें प्रवृत्तिवाद है या निवृत्तिवाद, यह विषय बिलकुल जुदा है। उसमें चाहे प्रवृत्तिवाद हो चाहे निवृत्तिवाद, उसकी जड़में पुनर्जन्मवाद, कर्म-विपाक, दैववाद और ईश्वरवाद आदि महत्त्वके सिद्धान्त है। जिन्हें गीतामूलक नया हिन्दू-धर्म स्थापित करना है उन्हें गीताका स्वतःप्रामाण्य श्रद्धापूर्वक मानना ही चाहिए। परन्तु जिन्हें गीताका शब्द-प्रामाण्य मान्य नहीं, जिन्हें बुद्धिवादसे ही चलना है और जिन्हें बुद्धिवादी धर्म चाहिए, उन्हें गीताके अनेक अध्यात्मविषयक और देवताविषयक प्रश्न बुद्धिसे सिद्ध करनेके लिए मार्कण्डेयकी उमर भी कम पड़ेगी।

गीता-धर्मका पुनरुज्जीवन

इस समय समाजके जीवनमें प्रवृत्तिवाद या निवृत्तिवादका प्रश्न महत्त्वका नहीं है। वास्तविक प्रश्न निराला ही है। समाजकी प्रगति रुक गई है और नवीन समाज-रचनाका प्रश्न सामने खड़ा है। दो ढाई हजार वर्ष पहलेकी गीता आजकलके प्रश्नोंका क्या उत्तर देगी? ध्येयवाचक अभ्युदय और निःश्रेयस शब्द सामाजिक प्रश्न हल करनेमें असमर्थ हैं। इस समय तो समाजके गतिशास्त्रकी और सामाजिक शक्तियोंके आघात प्रत्याघातोंके नियमोंकी खोज करनेवाले शास्त्रक

आवश्यकता है। गीताकी वेदान्ती चर्चासे कुछ होने जानेवाला नहीं। कहते हैं कि गीता निष्कर्मयोग बतलाती है। वास्तवमें कर्मका व्यक्तिपर और समाजपर क्या परिणाम होता है और उस कर्मसे क्या क्या फल निष्पन्न होते हैं, इसका हिसाब लगाकर जो कर्म योग्य ठहरें, वे ही सत्कर्म हैं। परम्परागत रूढ़िसे चले आते हुए अमुक कर्म अयोग्य हैं, यह बौद्धिक पद्धतिसे निश्चित होना चाहिए। इस काममें सामाजिक शास्त्र ही उपयोगी होंगे, गीता नहीं। दूसरा मुद्दा यह है कि गीताकी रचना पौराणिक पद्धतिकी है। उसमें स्वाभाविक तर्कशुद्धता और प्रमाणबद्धता नहीं है। वह उसमेंसे प्रयत्न करके निकालनी पड़ती है और इस कारण गीताके अनेक अर्थ होते हैं। ऐसी गीताका इस बुद्धिवादी और विज्ञान-निष्ठ युगमें भला क्या उपयोग होगा ?

बुद्धि-प्रामाण्य और हिन्दू-धर्मका नवीनीकरण

कुछ हिन्दू पंडितों और शिक्षितोंको जाति-धर्मकी व्यर्थता मालूम हो गई है, इसलिए अब उन्हें उसका अभिमान महसूस नहीं होता, जाति-भेदकी अंगभूत अस्पृश्यता और रोटी-बेटी व्यवहारके सूक्ष्म नियमोंका भी महत्त्व नहीं जँचता; इस लिए वे समझते हैं कि जातिधर्म हिन्दू धर्मका सच्चा लक्षण नहीं है। और इसीलिए वे जाति-धर्मकी अपेक्षा अधिक तात्त्विक और उच्च भूमिकाके लक्षण खोजने अथवा दिखलानेका प्रयत्न किया करते हैं; परन्तु इसमें उन्हें यश नहीं मिलता। इन प्रयत्नोंसे जिसका अस्तित्व ही नहीं था ऐसा एक नया हिन्दू-धर्म निर्माण हो रहा है। इन प्रयत्नोंकी जड़में अधूरी बुद्धिवादी और अशास्त्रीय स्वरूपकी ही कल्पना रहती है। आजकलके सामाजिक प्रश्न गहन हैं। उनपर योजित की हुई ये तात्कालिक युक्तियाँ बिलकुल निरर्थक ठहरती हैं। उनका बुद्धिवाद दिखाऊ और कच्चा रहता है। उस बुद्धिवादके बाहरी पतले आवरणके नीचे अन्ध-श्रद्धा ही दुबकी बैठी रहती है। मूलगामी विचार-सरणिका उसमें अभाव रहता है। वे नहीं जानते कि सच्चे बुद्धिवादको छुट्टी दिये बिना नवीन पारमार्थिक धर्म-सम्प्रदाय खड़ा नहीं किया जा सकता। पारमार्थिक सम्प्रदायको यदि नये स्वरूपमें लाना हो तो उसके लिए शब्द-प्रामाण्य स्वीकार करना ही पड़ेगा। पूर्ण बुद्धि-प्रामाण्य आया कि धर्म-वस्तु बाकी ही नहीं रहती। अलौकिक

दैवी वस्तुओंपर श्रद्धा ही धर्म-कल्पनाका प्राण है । शब्द-प्रामाण्यके सिवा इस वस्तुको कोई भी ठोस आधार नहीं मिलता, यह बात लो० तिलक और स्वा० दयानन्द जानते थे । इसीलिए दयानन्दने वेदको और तिलकने गीताको प्रमाण माना ।

विद्वद्रत्न केशव लक्ष्मण दफ्तरी, प्रो० पांडुरंग वामन काणे, तर्क-सांख्यतीर्थ कोकजे, महादेव शास्त्री दिवेकर आदि धर्म-निर्णय-मण्डलके विद्वान् बुद्धिवादमूलक तत्त्व-निष्ठ नये हिन्दू-धर्मको रचनेका प्रयत्न कर रहे हैं । कोई भी धर्म क्यों न हो,उसकी जड़में अलौकिक दिव्य अनुभव या शब्द-प्रमाण होना ही चाहिए । धर्म-निर्णय-मण्डलकी संस्कार-विधि, देवता-विषयक कल्पनाको ठीक मानकर ही रची गई है । यह देवताविषयक कल्पना केवल संकेत नहीं है, यह कहना ही पड़ेगा । कारण, झूठे संकेतकी मानव-समाजको जरूरत नहीं । उन कल्पनाओंकी प्रमाणता जिन्हें देवताओंका अनुभव है, प्रत्यक्ष साक्षात्कार हुआ है, उनके शब्दोंपर ही अवलम्बित है । ईश्वर, अमरत्व, ब्रह्म, माया, अदृष्ट आदि कल्पनाओंका निश्चय सुधारा हुआ बुद्धिवाद और निरोग मनका अनुभव नहीं कर सकता । यदि धर्म-निर्णय-मण्डलको शुद्ध शब्द-प्रामाण्य मान्य नहीं है तो उसकी प्रार्थना-विधि और संस्कार-विधि अधूरी मन्द श्रद्धाकी द्योतक है, यही कहना पड़ेगा । दृढ़ निश्चय और गहरी अमर्याद श्रद्धाके विना धर्म-स्थापना कभी हो ही नहीं सकती । इस महान् समाज-क्रान्तिके विज्ञान-युगमें नवीन भौतिक शास्त्र, और समाजशास्त्र उत्पन्न हो गये हैं । इन श्रेष्ठ साधनोंके उपलब्ध हो जानेपर उनका उपयोग न करनेसे किये हुए प्रयत्न व्यर्थ ठहरेंगे, इसमें जरा भी शंका नहीं है ।

धर्म-मूल्यकी चर्चा

कुछ लोग कहते हैं कि मानव-जीवनमें ईश्वर, आत्माका अमरत्व और कर्म-विपाकवादकी कल्पनाओंका कुछ मूल्य जरूर है । सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् , सर्व-गुण-सम्पन्न, परम-कल्याणमय ईश्वर बुद्धिसे सिद्ध हो या न हो; आत्माका अमरत्व तर्कसे समझमें आवे या न आवे अथवा व्यक्तिके किये हुए कर्मोंका फल कभी न कभी उसी व्यक्तिको भोगना पड़ता है, यह बात प्रमाणोंसे साबित हो या न हो, पर इन वस्तुओंका अस्तित्व माने विना मनुष्य इस संसारमें

समाज-धारणासम्बन्धी कर्म या सत्कर्म धीरजसे नहीं कर सकता, इसलिए इन वस्तुओंका अस्तित्व मान ही लेना चाहिए। इस मानव-बुद्धिके उस तरफकी वस्तुओंकी अस्तित्व-कल्पनासे मनुष्यको कर्मकी और जीवनकी कृतार्थता जान पड़ती है, यही उन वस्तुओंकी कल्पनाका मूल्य है। समाज-धारणाके लिए अथवा समाज-व्यवस्थाके लिए ईश्वर, स्वर्ग, नरक, आत्मा, पारलौकिक जीवन आदि वस्तुओंकी कल्पना आवश्यक है।

इस कल्पनामें अनेक दोष हैं। पहला यह कि ईश्वर-श्रद्धा और अमरत्व-भावना इन अलौकिक और पारलौकिक मूल्योंकी अपेक्षा बिलकुल निराले मूल्योंके अर्थात् केवल ऐहिक मूल्योंके योगसे इतिहासमें बहुत बड़ी बड़ी घटनाएँ घटी हैं और घट रही हैं। कला, विद्या, त्याग, शौर्य, पराक्रम आदि मानवी गुणोंको पराकाष्ठातक पहुँचानेका सामर्थ्य ऐहिक बुद्धिगम्य मूल्योंमें है। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति जिन लोगोंने की, उनके जीवनको और पराक्रमको स्वतंत्रता, लोक-सत्ता और बंधुत्व आदि सामाजिक मूल्योंका ही तो पीठबल था। अमेरिकाके स्वातंत्र्य-युद्धमें लोक-सत्ता और मानवी मूलभूत अधिकारोंकी स्थापनाके ध्येयसे ही अमेरिकन लोग लड़े। स्पेनके गत असफल और प्रतिक्रान्तिपर्यवसायी गृह-युद्धमें लोक-सत्ता, मानवीय अधिकार, आर्थिक गुलामीका नाश और समाज-वादके ध्येयसे प्रेरित होकर ही आन्तरराष्ट्रीय वीरोंने देहोत्सर्ग किया है। हमारे भारतवर्षमें भी फाँसीपर लटके हुए भगतसिंह सरीखे लोग राष्ट्रीय स्वतंत्रताके ध्येयके लिए ही देहार्पण कर गये हैं। जहाँपर जीवन-मरणकी ही कसौटी होती है, वहाँ पर भी अमरत्व और ईश्वरकी भावनाका स्पर्श न होते हुए भी बड़े बड़े कार्य सामान्य लोग कर जाते हैं, यह बात सामाजिक मानस-शास्त्रको मान्य है। ईश्वर और अमरत्वपर जिन्हें श्रद्धा नहीं है, ऐसे बड़े बड़े विज्ञान-संशोधक भौतिकशास्त्रोंमें रात-दिन जी-तोड़ परिश्रम करते रहते हैं। संशोधक लोग केवल ज्ञान-लालसासे, व्यवसाय-प्रीतिसे, उपजीविकाका साधन समझकर अथवा समाज-प्रीतिसे प्रेरित होकर अपनेको जोखिममें डालकर साहसके कार्य किया करते हैं। माता अपने बच्चेके लिए जो कष्ट उठाती है वह स्वर्गके लिए या ईश्वरके लिए नहीं। उसका जीव बच्चेके जीवके साथ एकमेक हो जाता है। उसकी भावना बच्चेके हितको ही परमार्थ समझती है। ऐसे सामाजिक प्राणी बहुत थोड़े होते हैं जिन्हें

केवल अपने अकेलेके ही भवितव्यकी चिन्ता रहती है। सामाजिक क्रिया व्यापक अहंभावनासे ही घटित होती है। समाजमें जन्म लेनेवाले मनुष्यका अहंभाव सामाजिक इतिहासके विशिष्ट युगानुरूप संकुचित अथवा व्यापक हुआ रहता है। उसकी व्यापकताकी मर्यादा विशिष्ट ऐतिहासिक परिणतिपर अवलम्बित रहती है। कुटुम्बके हितके लिए विश्राम लिये बिना खप जानेवाली प्रजा समाजके आरंभसे ही है। वह यह जान लेने पर भी कि ईश्वर और अमरत्व नहीं है उसी तरह खपती रहेगी। जमातके कानून-कायदे पारलौकिक डरके बिना पूरी तरहसे पालनेकी वृत्ति जंगली लोगोंमें भी पाई जाती है। धार्मिक ध्येयके लिए प्रयत्न करनेवाले व्यक्तिको अपनी पवित्रताकी और पारलौकिक जीवनकी ही बहुत चिन्ता रहती है और उसके लिए उसकी नीति रहती है। उसकी यह भावना अत्यन्त स्वार्थी होती है। यह स्वार्थ अत्यन्त विकृत होता है। कारण, वह केवल भ्रामक कल्पनापर आधारित रहता है। समाजकी प्रगमनयुक्त धारणा, राष्ट्रवाद, समाजवाद, मानवताका उत्कर्ष आदि ऐहिक बुद्धिगम्य ध्येय समाजनिष्ठ हैं, वैयक्तिक नहीं। वहाँ वैयक्तिक साध्य गौण ठहरते हैं। कारण, उस व्यापक ध्येयमें वर्तमान् और भावी अनन्त व्यक्तियोंके हित, समाज-स्थैर्य आर समाज-कल्याण संगृहीत रहते हैं। ऐहिक सामाजिक मूल्योंकी तरफदारी करनेवाला भौतिकवाद व्यक्तिके काल्पनिक पारलौकिक ध्येयोंकी वकालत करनेवाले अध्यात्मवादकी अपेक्षा अधिक सत्य और श्रेष्ठ है। कारण, इस भौतिकवादमें समाजके सारे व्यक्तियोंके योग-क्षेमका अन्तर्भाव रहता है।

धर्म-मूल्योंका दूसरा दोष यह है कि विशिष्ट देश-कालमर्यादामें महत्त्व पाये हुए विधि-निषेधोंको, भावनाओंको, आचार-विचारोंको अथवा संस्थाओंको धर्मवाद शाश्वत मूल्य अर्पण करता है। उनके लिए शाश्वत अलौकिक शक्तियोंका सहारा निर्माण करता है। यही परमेश्वरी आदेश या संकेत है, ऐसा कहता है। यह ऋषियोंको, या महात्माओंको दिखा हुआ महान् सत्य है, ऐसा दिखलाता है। इसका परिणाम यह होता है कि विशिष्ट देश-कालमें आर विशिष्ट परिस्थितियोंमें ही कुछ आचार-विचारोंका जो महत्त्व होता है वह परिस्थिति बदलनेपर नष्ट हो जाता है और रास्तेका रोड़ा बन जाता है। धर्म-मूल्यके कारण यह रोड़ा प्रगतिके मार्गमें अड़चन खड़ी करता है। मानवेतिहास

डंकेकी चोट कहता है कि अपौरुषेयता, ईश्वर-संकेत, कर्म-विपाक आदि शाश्वत मूल्य ही परिवर्त्तन करनेमें अड़चन डालकर प्रगतिके बैरी बन जाते हैं। धर्मतत्व अथवा पारलौकिक मूल्यवाले विशिष्ट ध्येय, भावना, आचार और संस्था ही प्रगतिकी शृङ्खला बन जाती हैं। मनुष्यने ही जिसे जन्म दिया और पाला पोसा, वही धर्म और ईश्वर मनुष्यपर चढ़ बैठता है और उसका अधःपात करता है। इसलिए अब आगे ऐसे ध्येय और मूल्य चाहिए जो बुद्धिवादपर आधारित हों और जो गरज सरते ही बदले जा सकें। धर्म-मूल्योंको अब छुट्टी दे देनी चाहिए।

धर्ममूल्योंका तीसरा दोष यह है कि धर्म-संस्थापर सत्ताधारी वर्गके लोगोंका प्रभाव पड़ता है और वे उन धर्म-मूल्योंका और धार्मिक विचार-सरणिका उपयोग सामान्य जनताको गुलामी और अज्ञानमें पड़े रखनेके लिए करते हैं। सारे धर्मोंका इतिहास कहता है कि ईश्वरवाद, अमरत्व, पाप-पुण्य और कर्म-विपाकका उपयोग अपना सामाजिक दर्जा, सत्ता और भोग-साधन कायम करनेके लिए ही सत्ताधारियोंने किया है। जाति-भेदके विषम कायदोंको और अस्पृश्यताकी संस्थाको धर्म-मूल्योंने ही हजारों वर्षों तक जिन्दा रक्खा। ग्राम्य भौतिक स्वार्थ साधनेके लिए गूढ़ अध्यात्मवादका अच्छा उपयोग होता है।

भौतिकवाद अनैतिक होता है और गूढ़ अध्यात्मवाद नैतिक, इस तरहका मेल बिठाना ही गलत है। गूढ़ अध्यात्मवादके पेटमें ग्राम्य और घृणित भौतिकवाद समाया रहता है और वैज्ञानिक भौतिकवादके पेटमें अत्यन्त उच्च श्रेणीका अध्यात्मवाद संगृहीत रहता है। मनुष्यकी बौद्धिक और मानसिक उन्नति ही मानव-जीवनका अध्यात्मवाद है। समाजके सारे घटकोंका योग-क्षेम अच्छी तरह चलानेकी चिन्ता किये बिना, विद्या और कलाके द्वार सारे मनुष्योंके लिए पूरी तरह खुले रक्खे बिना, प्रगतिके सारे साधन सारे समाज घटकोंको प्राप्त हो सकें, ऐसी व्यवस्था किये बिना समाजमें श्रेष्ठ अध्यात्मवादका अवतरण हो ही नहीं सकता। आत्माका अर्थात् मनुष्यकी शक्तियोंका विकास करना ही मानव-जीवनका अध्यात्मवाद है और इस विकासके लिए सृष्टिकी सारी शक्तियोंकी सहायता विज्ञान और कलाके द्वारा लेनेको वैज्ञानिक भौतिकवाद कहते हैं। सामाजिक उच्च ध्येयोंकी साधना ही अध्यात्मवाद है।

विश्वका कार्य-कारणभाव और विश्वका मूलस्वरूप कैसा है, इस विषयसे

सम्बद्ध अध्यात्मवाद और भौतिकवाद ये दो पक्ष तत्त्वज्ञानमें प्रसिद्ध हैं। यहाँ उनकी चर्चा नहीं की गई। जो अध्यात्मवाद और भौतिकवाद जीवनसे सम्बद्ध है, केवल उसीका खुलासा किया गया है। सृष्टिका कार्य-कारणभाव चेतन ज्ञानयुक्त शक्तिके संकल्प-विकल्पयुक्त आत्माके अधीन है। विश्वके सारे फेरफार, उथल-पुथल, एकमेवाद्वितीय, चेतन, विचारशील, सर्वशक्तिमान्, सर्वस्वामी, सर्वव्यापी परमात्माकी इच्छा मात्रसे होते हैं। आत्माका ही आविर्भाव यह विश्व है। यही वह अध्यात्मवाद है। उपनिषद्, गीता, शंकराचार्य, इस्लाम, ईसाई धर्म और हेगेल सरीखे अध्यात्मवादी तत्त्ववेत्ताओंका यही अध्यात्मवाद है। विज्ञानसिद्ध भौतिकवाद (Scientific Materialism) कहता है कि आत्म-व्यतिरिक्त वस्तु-शक्तियोंके कार्य-कारण-भावके नियमोंसे यह बना और बनता है। इस अध्यात्मवादकी और भौतिकवादकी सविस्तर चर्चा करनेके लिए इस निबन्धमें यथेष्ट स्थान नहीं है।

विश्वका रहस्य, धर्मसंस्था और विज्ञान

विश्वकी अनन्त शक्तियोंका विस्तार, सूक्ष्मता और गंभीरता देखते ही जिज्ञासुओंके मनमें एक चमत्कृतिपूर्ण भावनाका उदय होता है। प्रो० मेक्समूलर इस भावनाको अनन्तकी संवेदना कहते हैं। यह अनन्तकी संवेदना ही उनकी दृष्टिमें सब धर्मोंका आधार है। इस विचारमें एक बड़ा भारी दोष है। ज्ञाताके उस तरफका, सान्तके उस पारका जो अनन्त है, उसीकी अर्थात् केवल अव्यक्तकी ही शुद्ध भावना धर्म-कल्पना नहीं है। धर्म-कल्पनामें सान्त विश्वकी ज्ञात और अनुभूत कल्पनाओंका विपर्यस्त और विकृत भ्रान्ति-जाल धर्म-संस्थाने निर्माण किया है। स्वर्ग, नरक, ईश्वर, पुनर्जन्म, कर्म-फल, न्यायका अन्तिम निर्णय, आदि कल्पना अव्यक्त, शुद्ध, अनन्त नहीं हैं। ज्ञात विश्वके पेटमें गर्भित कल्पनाओंका आरोप करके बनाया गया निराला काल्पनिक विश्व ही धार्मिक तत्त्व है। जागृतिके विपर्यासमे जिस तरह स्वप्न तैयार होते हैं उसी तरह धर्म-तत्त्व भी तैयार हुए हैं।

भाव-पूर्ण, तरल, रम्य, और उदात्त उत्कंठापूर्ण ऐसी जो गम्भीर चमत्कृतिरूप विश्वविषयक वृत्ति आत्माको भर देती है, उसका समाज-संस्थाके अवयव बने हुए संस्थारूप धर्मसे बहुत कम संबंध है। महासागरमें जहाजपर

प्रवास करनेवाले तत्त्व-चिन्तकको तरंगोंका नृत्य और अमर्याद विस्तारका अवलोकन करते हुए इस वृत्तिका अनुभव होता है। बालुकामय विशाल प्रदेशके मुसाफिरोंको प्रशान्त रात्रिमें गगन-मंडलके ताराओंका अवलोकन करते हुए इस वृत्तिका अनुभव होता है। वृक्ष-वल्ली-लताहीन, पशुपक्षिमनुष्य-शून्य शीतल हिममय और ऊँचे हिमालयकी पर्वतश्रेणीके परिसरमें इस वृत्तिका साक्षात्कार होता है। आइंस्टीन (Einstein) ने कहा है कि "आश्चर्यपूर्ण विश्व ही सबसे सुन्दर है, ऐसा अनुभव होता है। सच्ची कलाका और विज्ञानका वही उद्गम-स्थान है। जिसके मनमें इस भावनाका उदय नहीं होता, जिसे चमत्कार और विस्मय नहीं मालूम होता, कहना चाहिए कि उसके नेत्र हमेशाके लिए फूट गये, वह मर गया। इस दृष्टिसे, केवल इसी दृष्टिसे, मैं धार्मिक हूँ।" आइंस्टीनके इस कथनमें बहुत तथ्य है। काण्टको भी विश्वके विषयमें ऐसी ही विस्मय-वृत्ति अनुभवमें आई थी। वह कहता है कि "मस्तकके ऊपर तारकामय अनन्त आकाश और अन्तःकरणमें बसी हुई नीति-तत्त्वोंकी अटल श्रद्धाकी ओर देखकर विस्मयका पार नहीं रहता।" वसन्तकी कोमल पल्लवों और पुष्पोंसे आच्छादित सृष्टि, शरत्कालका प्रसन्न जल, समृद्ध शस्य और नीलाकाश देखकर उदित होनेवाली कविके अन्तःकरणकी चमत्कृतिके साथ इस वृत्तिकी समानता है। धर्मके भविष्य, स्वर्ग, नरक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् सन्तोंके चमत्कारों, अवतारों और पैगम्बरोंके साथ इस वृत्तिका कोई सम्बन्ध नहीं है। अज्ञात, अचिन्त्य और अनन्त विश्वके आगे नम्र होना, इतना ही इसका फल और रहस्य है। इस नम्रताने विज्ञानको जन्म दिया है, धर्मको नहीं। यह नम्रता जिज्ञासाको जन्म देती है, संशोधन-वृत्तिको उत्साहित करती है और मनुष्यको निरन्तर अपूर्णताकी जानकारी देते हुए प्रगति और विकासके अनन्त विस्तारकी कल्पनाको जाग्रत् रखती है। परन्तु धर्म-संस्थाने इस तरहकी विश्व-विषयक नम्रता क्वचित् ही निर्माण की है। धर्मने तो युग-युगसे सर्वज्ञताका स्वयं ठेका ले रक्खा है। आजतक धर्म ही यह बतलाता रहा है कि सचेतन और अचेतन विश्वपर मेरा वर्चस्व है। धर्मने ही श्रद्धाके क्षुद्र टेस्ट-ट्यूबमें विश्व-सम्बन्धी सारे आश्चर्य और रहस्य घोल रक्खे हैं। विश्वका रहस्य लीला मात्रमें सहज ही खोलकर दिखलाता हूँ; ऐसा गर्व धर्मने ही आजतक किया है। अज्ञातके विषयमें धर्मको कोई आदर नहीं है। धर्मने हमेशा इतनेकी ही बहुत

सावधानी रक्खी है कि लोगोंपर प्रभाव कैसे जमाया जाय। सत्यकी उसके निकट विशेष कद्र नहीं। उपनिषदों और दर्शन-शास्त्रोंके कुछ विचारोंको छोड़कर लोगोंपर प्रभाव बनाये रखने-भरके लिए कुतः कथं आदि प्रश्नोंका धर्मने विचार किया है। कुछ ही धार्मिक तत्त्व-वेत्ता इसके अपवाद हैं। क्षुद्र मानवोंके सुकृत-दुष्कृतोंका सारे विश्वके साथ सम्बन्ध जोड़नेका काम धर्मने ही आजपर्यन्त किया है। क्यों कि विशिष्ट हित-सम्बन्ध बनाये रखनेका ध्येय ही धर्मके आगे था। विज्ञानने इस भ्रान्तिको नष्ट कर दिया। ज्योतिष, भूगर्भ-शास्त्र, जीवन-शास्त्र, मानस-शास्त्र आदिके योगसे यह भ्रान्ति स्पष्ट हो गई।

विज्ञानकी प्रभामें विचरनेवाले मानवके मनपर विज्ञानके वर्तमान् विकासका परिणाम यह होता है कि इस विश्वमें मानव अत्यन्त क्षुद्र है। महासागरके सारे तीरपर जितनी रेत है उस रेतके एक कणका जो महत्त्व है, उतना ही महत्त्व इस विश्वमें भू-गोलका है। (१) धर्म-शास्त्रने जीवको सारे विश्वका मध्य-बिन्दु कल्पित किया है। उसने माना है कि जीवके हित-अहितपर और पाप-पुण्यपर सारा सृष्टि-व्यापार अवलम्बित है। (२) धर्मने कल्पना की है कि विश्वकी सारी क्रियाओं और गठन-विघटनके पीछे कोई न कोई उद्देश्य या योजना है और यह उद्देश्य रखनेवाला और योजना करनेवाला स्रष्टा आत्मा है।

इस धार्मिक विचार-सरणिका त्याग करके विज्ञान-निष्ठ मानव बिलकुल निराली ही विचार-प्रणाली निर्माण कर रहा है। उसकी दृष्टिसे यह भूगोल अणुओंके व्यापारसे किसी समय निर्माण हुआ है। फिर उसपर जीव और मानव उत्पन्न हुआ। यह मानव अपने आसपासकी सृष्टिसे संघर्ष करता हुआ उस सृष्टिको अधिकाधिक वशमें करके जीनेका प्रयत्न कर रहा है और इस प्रयत्नमें उसे अधिकाधिक यश प्राप्त हो रहा है। शास्त्रज्ञ मानव विश्व-शक्तिका गठन-विघटन अपने ही जीवनका प्रतिबिम्ब (Anthropomorfic) है, ऐसा मानना छोड़ने लगा है और जैसा हमें चाहिए वैसा ही यह विश्व है, ऐसा माननेकी जंगली विचार-पद्धतिको वह फेंक देने लगा है। ज्ञातकी अपेक्षा अज्ञात अनन्त गुना महान् है, यह समझकर उस अज्ञातको ज्ञानकी मर्यादामें खींचकर अपने वशमें करनेका कर्मयोग ही शास्त्रज्ञ मनुष्यको पसन्द आ रहा है। भविष्यमें वह उपनिषदोंमें वर्णित यह शिकायत नहीं करेगा कि " मैं पुण्य-सम्पादन करनेका प्रयत्न कर रहा था कि पापने मुझे घेर लिया और प्रकाशके

लिए जब मैं छटपटा रहा था तब अन्धकारने मुझे ग्रस लिया।" इस पाप और अन्धकारको निवारण करनेके लिए वह देवताओंकी तरफ न जाकर मानवके कर्म-कौशल्यपर ही ज्यादा भरोसा रखने लगा है। समाजके अन्याय, विषमता, निर्दयता, कृपणता, दीनता, भूख, अज्ञान आदि दुर्गुणोंके विषयमें देव या दैवको जवाबदेह न मानकर अपनी समाज-रचनाको ही जवाबदेह समझने लगा है। जिन प्रश्नोंका उत्तर मिलना असंभव है धर्म उनके काल्पनिक उत्तर देकर आत्म-प्रवंचना करता है। इस तरहकी आत्म-प्रवंचना विज्ञान-निष्ठ मानव नहीं करनेका। उसका मन इतना ऋजु हो गया है कि अब वह 'यह प्रश्न समझमें नहीं आता है,' ऐसा कहकर प्रश्न-पत्रिका कोरी रखकर पराभव और अल्पज्ञता स्वीकार कर लेता है। वह वातावरणपर अधिकार प्राप्त करेगा, नवीन सितारोंका पता लगायेगा, अचेतन सृष्टिको सचेतन बनायेगा, रोगोंका सम्पूर्ण नाश करेगा, दीर्घायुष्य प्राप्त करेगा, सारी पृथ्वीको एक सुन्दर शहरसदृश निर्वेध, निर्विघ्न और सुगम कर देगा। ऐसे आरोग्यकी साधना करेगा कि बुढ़ापेमें मृत्यु नींद जैसी आवश्यक और मीठी मालूम हो। ज्ञानका क्षेत्र दिनोंदिन व्यापक हो रहा है, इसके कारण ऊटपटाँग और मिथ्याभूत पौराणिक कल्पनाओंसे वह ठगाया नहीं जायगा। इस विश्वमें अन्तर्यामी गूढ़ सचेतन देवताका व्यापार चालू रहता है, मृत्युके बाद धार्मिक और आध्यात्मिक जीवको योग्यताके अनुसार स्थान और फल प्राप्त होता है, आदि भ्रान्तियोंके जालसे मुक्त होकर मरनेके बाद प्राप्त होनेवाले स्वर्गको इस भौतिक विश्वके इन्द्रिय-गम्य समाजमें लानेका प्रयत्न विज्ञानके बलपर मनुष्यको करना चाहिए, ऐसी परिस्थिति इस समय उत्पन्न हो गई है। नवीन समाज-रचनाके निर्माण करनेका आन्दोलन तो कभीका शुरू हो चुका है। धर्मक्षेत्रमें लड़ते हुए चन्द्र, सूर्य, तारोंके उस ओरके स्वर्गकी साधनाके लिए सर्वस्वार्पण करनेकी तैयारी मनुष्य युग-युगसे दिखला रहा है। यों ही गलत रास्तेमें व्यर्थ जानेवाली उसी अगणित जीवन-शक्तिको सत्य सृष्टिके वास्तवानुसारी ध्येय सिद्ध करनेके अगणित साधन मिले हैं और मिल रहे हैं। इन साधनोंसे दृष्टिकी सीमामें आये हुए चैतन्यसे सराबोर, अचेतनामें जीवन फूँकनेवाले, विद्युत् संचय करनेवाले यंत्रके समान थरथरानेवाले, मध्याह्नके सूर्य-सदृश देदीप्यमान नवीन सामाजिक विश्व निर्माण करना ही मानव-शक्तिका आगामी साध्य है।

धर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ सामाजिक संस्था

अब धर्म-संस्थाकी अपेक्षा उच्चतर सामाजिक संस्था निर्माण होने लगी है। धर्म-संस्थाने मानव-समाजके लिए पूर्व-कालमें जो सेवा की, वही सेवा अधिक कुशलतासे और उच्च भूमिकामें रहकर पार पाड़नेवाले साधन और संस्था निर्माण करनेका प्रयत्न समाजने शुरू किया है। इस समय ऐसी सामाजिक व्यवस्थाकी जरूरत आ पड़ी है जिसका परिचय पूर्वकालकी धर्म-संस्थाको नहीं था। अब सारे मनुष्योंको सब प्रकारकी विद्या और कलाकी शिक्षाका प्रबन्ध करनेवाली समाज-व्यवस्था चाहिए। समाजके प्रत्येक घटकका योग-क्षेम अच्छी तरहसे चलता रहे, ऐसी और यांत्रिक उद्योग-धन्धोंपर सामाजिक मालिकी स्थापित करके तैयार की हुई आर्थिक पुनर्रचना चाहिए। आर्थिक उत्पादनोंके साधनोंकी व्यक्तिगत मालिकीसे उत्पन्न हुए जमींदार और पूँजीवाले वर्गोंका जिसमें अस्तित्व नहीं है ऐसी समाज रचना चाहिए। समाजवादी सिद्धान्तपर अधिष्ठित और लोकसत्तात्मक राज्य-घटनासे युक्त समाज-संस्था चाहिए।

उपर्यक्त नये ध्येय हमारी परम्पराकी ही नवपरिणति है। व्यासने मानव-व्यवहारको, लोक-व्यवस्थाको और समाज-धारणाको मुख्यता देकर शाश्वत नैतिक मूल्योंको भी सापेक्ष ठहराया, बुद्धदेवने मानवको मध्यवर्ती स्थान दिया, वेदोंसे लेकर शंकराचार्य तक तत्त्ववेत्ताओंने सत्यकी नित्य-समीक्षाका और संशोधनका अग्नि प्रज्वलित रखा। हिन्दू-धर्मका यह महान् उत्तराधिकार भारतीयोंको मिला है। उसे न छोड़ते हुए भूतकालमें जो कभी निर्माण नहीं किया जा सका ऐसा उच्च सामाजिक जीवन निर्माण करनेकी जवाबदारी उनपर है। भूतकालकी परिस्थितिको उच्च ध्येय समझकर जो वर्तमान् कालमें प्रयत्न करते हैं उनका भविष्य-काल नहीं होता। नये कालमें नये ध्येय और नवीन साधन निर्माण करनेवाले लोग ही महान् भवितव्यके कर्त्ता बनते हैं। भूतकालीन विचारोंकी सीढ़ी पैरोंके नीचे डाले विना नवीन विचारोंके उच्चतर स्थानपर नहीं पहुँचा जा सकता।

परिशिष्ट

[इस पुस्तकमें महाभारतादि प्राचीन ग्रन्थोंके श्लोकों और अध्यायोंकी संख्या ही दी गई है । जिज्ञासुओंके लिए यहाँ वे सब श्लोक उद्धृत कर दिये जाते हैं । जिन जिन पृष्ठोंमें संकेत हैं, वे पहले दे दिये गये हैं ।]

पृष्ठ १३

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति । यस्मिन्निदं सर्वमध्याध्नोंत्तेनाध्यर्ध इति । कतम एको देव इति । प्राण इति । स ब्रह्मेत्याचक्षते ।

—बृहदारण्यकोपनिषत् ३–९–९

पृष्ठ ८७

दानं भूताभयस्याहुः सर्वदानेभ्य उत्तमम् ।
ब्रवीमि ते सत्यमिदं श्रद्दधस्व च जाजले ॥ ३३ ॥
अकारणो हि नैवास्ति धर्मः सूक्ष्मो हि जाजले ।
भूतभव्यार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम् ॥ ३५ ॥

—शान्तिपर्व अ० २६२

अहिंसा सत्यमक्रोधो दानमेतच्चतुष्टयम् ।
अजातशत्रो सेवस्व धर्म एष सनातनः ॥ २३ ॥

—अनुशासन अ० १६२

सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम्
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम् ॥ ३ ॥
अपि ह्युक्तानि धर्म्याणि व्यवस्यन्त्युत्तरावरे ।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ॥ ४ ॥
उभयत्र सुखोदर्कः इह चैव परत्र च ॥ ५ ॥
सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम् ।
सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥
यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥ २० ॥

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम् ॥ २६ ॥

—शान्तिपर्व अ० २५९

पृष्ठ ८८–८९

उशना बृहस्पतिश्चैव यदोत्पन्नौ भविष्यतः।
तदा प्रवक्ष्यतः शास्त्रं युष्मन्मतिभिरुद्धृतम् ॥ ४५ ॥
स्वायंभुवेषु धर्मेषु शास्त्रे चौशनसे कृते।
बृहस्पतिमते चैव लोकेषु प्रतिचारिते ॥ ४६ ॥
युष्मत्कृतमिदं शास्त्रं प्रजापालो वसुस्ततः।
बृहस्पतिसकाशाद्वै प्राप्स्यते द्विजसत्तमाः ॥ ४७ ॥
स हि सद्भावितो राजा मद्भक्तश्च भविष्यति।
तेन शास्त्रेण लोकेषु क्रियाः सर्वाः करिष्यति ॥ ४८ ॥
एतद्धि युष्मच्छास्त्राणां शास्त्रमुत्तमसंज्ञितम्।
एतदर्थ्यं च धर्म्यं च रहस्यं चेतदुत्तमम् ॥ ४९ ॥

—शान्तिपर्व अ० ३३५

परिमुष्णन्ति शास्त्राणि धर्मस्य परिपन्थिनः
वैषम्यमर्थविद्यानां निरर्थाः ख्यापयन्ति ते ॥ ११ ॥
नैतच्छ्रुत्वाऽऽगमादेव तव धर्मानुशासनम्।
प्रज्ञासमभिहारोऽयं कविभिः संभृतं मधु ॥ ३ ॥

—शान्ति अ० १४२

इमानि हि प्राणयन्ति सृजन्त्युत्तारयन्ति च।
न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम् ॥ ३ ॥

—शान्ति अ० २६०

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥ १४ ॥
पाल्यमानास्तथाऽन्योऽन्यं नरा धर्मेण भारत।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत् ॥ १५ ॥

—शान्ति अ० ५९

पृष्ठ ९०

ये च छिन्दन्ति वृषणान् ये च भिन्दन्ति मस्तकान् ।
वहन्ति महतो भारान् बध्नन्ति दमयन्ति च ॥ ३७ ॥
हत्वा सत्वानि खादन्ति तान्कथं न विगर्हसे ।
मानुषा मानुषानेव दासभावेन भुञ्जते ॥ ३८ ॥
वधबन्धनिरोधेन कारयन्ति दिवानिशम् ।
आत्मनश्चापि जानाति यद्दुःखं वधबंधने ॥ ३९ ॥
पञ्चेन्द्रियेषु भूतेषु सर्वं वसति दैवतम् ।
आदित्यश्चन्द्रमा वायुर्ब्रह्मा प्राणः क्रतुर्यमः ॥ ४० ॥
तानि जीवानि विक्रीय का मृतेषु विचारणा ।
अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः पृथिवी विराट् ॥ ४१ ॥
धेनुर्वत्सश्च सोमो वै विक्रीयैतन्न सिद्ध्यति ।
का तैले का घृते ब्रह्मन् मधुन्यप्यौषधेषु वा ॥ ४२ ॥
अदंशमशके देशे सुखसंवर्धितान् पशून् ।
तांश्च मातुः प्रियान् जानन्नाक्रम्य बहुधा नराः ॥ ४३ ॥
बहुदंशाकुलान् देशान्नयन्ति बहुकर्दमान् ।
वाहसंपीडिता धुर्याः सीदन्त्यविधिना परे ॥ ४४ ॥
न मन्ये भ्रूणहत्याऽपि विशिष्टा तेन कर्मणा ।
कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा च वृत्तिः सुदारुणा ॥ ४५ ॥
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ।
तथैवानडुहो युक्तान् समवेक्षस्व जाजले ॥ ४६ ॥
अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत्तु यः ॥ ४७ ॥
ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुषे प्रत्यवेदयन् ।
गां मातरं चाप्यवधीर्वृषभं च प्रजापतिम् ॥ ४८ ॥
अकार्यं नहुषाकार्षीर्लप्स्यामस्त्वत्कृते व्यथाम् ।
शतं चैकं च रोगाणां सर्वभूतेष्वपातयन् ॥ ४९ ॥

ऋषयस्ते महाभागाः प्राजास्वेव हि जाजले ।
भ्रूणहं नहुषं त्वाहुर्न ते होष्यामहे हविः ॥ ५० ॥
इत्युक्त्वा ते महात्मानः सर्वे तत्वार्थदर्शिनः ।
ऋषयो यतयः शांतास्तपसा प्रत्यवेदयन् ॥ ५१ ॥
ईदृशानशिवान् घोरान् आचारानिह जाजले ।
केवलाचरितत्वात्तु निपुणो नावबुध्यसे ॥ ५२ ॥

—शान्ति अ० २६२

अथ त्विदं प्रवक्ष्यामि धर्मतत्वं निबोध मे ।
पुराणमृषिभिर्दृष्टं धर्मविद्भिर्महात्मभिः ॥ ३ ॥
अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने ।
कामचारविहारिण्यः स्वतंत्राश्चारुहासिनी ॥ ४ ॥
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन् ।
नाधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्मः पुराऽभवत् ॥ ५ ॥
तं चैव धर्मं पौराणं तिर्यग्योनिगताः प्रजाः ।
अद्याप्यनुविधीयन्ते कामक्रोधविवर्जिताः ॥ ६ ॥
प्रमाणदृष्टो धर्मोऽयं पूज्यते च महर्षिभिः ।
उत्तरेषु च रंभोरु कुरुष्वद्यापि पूज्यते ॥ ७ ॥
स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि धर्मः सनातनः ।
अस्मिंस्तु लोके न चिरात् मर्यादेयं शुचिस्मिते ॥ ८ ॥
स्थापिता येन यस्माच्च तन्मे विस्तरतः शृणु ।
बभूवोद्दालको नाम महर्षिरिति नः श्रुतम् ॥ ९ ॥
श्वेतकेतुरितिख्यातः पुत्रस्तस्याभवन्मुनिः ।
मर्यादेयं कृता तेन धर्म्या वै श्वेतकेतुना ॥ १० ॥
कोपात्कमलपत्राक्षि यदर्थं तन्निबोध मे ।
श्वेतकेतोः किल पुरा समक्षं मातरं पितुः ॥ ११ ॥
जग्राह ब्राह्मणः पाणौ गच्छाव इति चाब्रवीत् ।
ऋषिपुत्रस्ततः कोपं चकारामर्षचोदितः ॥ १२ ॥

मातरं तां तथा दृष्ट्वा नीयमानां बलादिव ।
क्रुद्धं तं तु पिता दृष्ट्वा श्वेतकेतुमुवाच ह ॥ १३ ॥
मा तात कोपं कार्षीस्त्वं एष धर्मः सनातनः ।
अनावृता हि सर्वेषां वर्णानामङ्गना भुवि ॥ १४ ॥
यथा गावः स्थितास्तात स्वे स्वे वर्णे तथा प्रजाः ।
ऋषिपुत्रोऽथ तं धर्मं श्वेतकेतुर्न चक्षमे ॥ १५ ॥
चकार चैव मर्यादामिमां स्त्रीपुंसयोर्भुवि ।
मानुषेषु महाभागे न त्वेवान्येषु जन्तुषु ॥ १६ ॥
तदा प्रभृति मर्यादा स्थितेयमिति नः श्रुतम् ।
व्युच्चरन्त्याः पतिं नार्या अद्यप्रभृति पातकम् ॥ १७ ॥
भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहम् ।
भार्यां तथा व्युच्चरतः कौमारब्रह्मचारिणीम् ॥ १८ ॥
पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि ।
पत्या नियुक्ता या चैव पत्नी पुत्रार्थमेव च ॥ १९ ॥
न करिष्यति तस्याश्च भविष्यति तदेव हि ।
इति तेन पुरा भीरु मर्यादा स्थापिता बलात् ॥ २० ॥
उद्दालकस्य पुत्रेण धर्म्या वै श्वेतकेतुना ।
सौदासेन च रंभोरु नियुक्ता पुत्रजन्मनि ॥ २१ ॥

आदिपर्व अ० १२२

पृष्ठ १०६

शक्यं दीर्घेण कालेन युक्तेनातन्द्रितेन च ।
प्राणयात्रामनेकां च कल्पमानेन भारत ॥ ७ ॥
तत्परेणैव नान्येन शक्यं ह्येतस्य दर्शनम् ।
हेतूनामन्तमासाद्य विपुलं ज्ञानमुत्तमम् ॥ ८ ॥

अनु० अ० १६२

कारणाद्धर्ममन्विच्छेन्न लोकचरितं चरेत् ।
यो हन्याद्यश्च मां स्तौति तत्रापि शृणु जाजले ॥ ५३ ॥

समौ तावपि मे स्यातां न हि मेऽस्ति प्रियाप्रियम् ।
एतदीदृशकं धर्मं प्रशंसन्ति मनीषिणः ॥ ५४ ॥
—शान्ति अ० २६२

तस्मात्कौन्तेय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये ।
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना ॥ १०२ ॥
शान्ति अ० १४१

न धर्मवचनं वाचा नैव बुद्ध्येति नः श्रुतम् ।
इति बार्हस्पतं ज्ञानं प्रोवाच मघवा स्वयम् ॥ १७ ॥
न त्वेव वचनं किंचिदनिमित्तादिहोच्यते ।
सुविनीतेन शास्त्रेण न व्यवस्यन्त्यथापरे ॥ १८ ॥
लोकयात्रामिहैके तु धर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।
समुद्दिष्टं सतां धर्मं स्वयमूहेत पण्डितः ॥ १९ ॥
अमर्षाच्छास्त्रसंमोहादविज्ञानाच्च भारत ।
शास्त्रं प्राज्ञस्य वदतः समूहे यात्यदर्शनम् ॥ २० ॥
आगतागमया बुद्ध्या वचनेन प्रशास्यते ।
अज्ञानाज्ज्ञानहेतुत्वाद्वचनं साधु मन्यते ॥ २१ ॥
अनया हतमेवेदमिति शास्त्रमपार्थकम् ।
दैतेयानुशना प्राह संशयच्छेदनं पुरा ॥ २२ ॥
—शान्तिपर्व अ० १४२

युधिष्ठिर उवाच—

सूक्ष्मं साधु समुद्दिष्टं नियतं ब्रह्मलक्षणम् ।
प्रतिभा त्वस्ति ये काचित्तां ब्रूयामनुमानतः ॥ १ ॥
भूयांसो हृदये ये मे प्रश्नास्ते व्याहृतास्त्वया ।
इदं त्वन्यत्प्रवक्ष्यामि न राजन्निग्रहादिव ॥ २ ॥
इमानि हि प्राणयन्ति सृजन्त्युत्तारयन्ति च ।
न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम् ॥ ३ ॥
अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः ।
आपदस्तु कथं शक्याः परिपाटेन वेदितुम् ॥ ४ ॥

सदाचारो मतो धर्मः सन्तस्त्वाचारलक्षणाः ।
साध्यासाध्यं कथं शक्यं सदाचारो ह्यलक्षणः ॥ ५ ॥
दृश्यते हि धर्मरूपेणाधर्मं प्राकृतश्चरन् ।
धर्मं चाधर्मरूपेण कश्चिदप्राकृतश्चरन् ॥ ६ ॥
पुनरस्य प्रमाणं हि निर्दिष्टं शास्त्रकोविदैः ।
वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीति ह नः श्रुतम् ॥ ७ ॥
अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे धर्मा यथाशक्ति कृता इव ॥ ८ ॥
आम्नायवचनं सत्यमित्ययं लोकसंग्रहः ।
आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृताः सर्वतोमुखाः ॥ ९ ॥
ते चेत्सर्वप्रमाणं वै प्रमाणं ह्यत्र विद्यते ।
प्रमाणेऽप्यप्रमाणेन विरुद्धे शास्त्रता कुतः ॥ १० ॥

—शान्ति अ० २६०

पृ० १०७

धर्मार्थहेतोः क्षमते तितिक्षा क्षान्तिरुच्यते ।
लोकसंग्रहणार्थं वै सा तु धैर्येण लभ्यते ॥ १६ ॥

—शान्ति अ० १६२

पृष्ठ १०८

प्रेन्द्राग्निभ्यां सुवचस्यामियर्मि सिंधाविव प्रेरयं नावमर्कैः ।
अया इव परि चरन्ति देवा ये अस्मभ्यं धनदा उद्भिदश्च ॥ १० ॥

ऋग्वेद १०।११६

पृष्ठ १०९

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविंदत्
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिंद्राय शंसन् ॥ १ ॥

—ऋग्वेद १०।६७

एष वः स्तोमो मरुतो नमस्वान् हृदा तष्टो मनसा धायि देवाः ।
उपेमा यात मनसा जुषाणा यूयं हि ष्ठा नमस इद्वृधासः ॥ २ ॥

—ऋग्वेद १।१७१

प्र वः शर्धाय घृष्वये त्वेषद्युम्नाय शुष्मिणे । देवत्तं ब्रह्म गायत ॥ ४ ॥

—१।३७

ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि ।
ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः समू नु पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः ॥ २ ॥

—१।१७९

इमं स्वस्मै हृद आ सुतष्टं मंत्रं वोचेम कुविदस्य वेदत् ।
अपां नपादसुर्यस्य मह्ना विश्वान्यर्यो भुवना जजान ॥ २ ॥

—२।३५

अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तवसे तुराय ।
विरप्शिने वज्रिणे शंतमानि वचांस्यासा स्थविराय तक्षम् ॥ १ ॥

—६।३२

अयं मे पीत उदियर्ति वाचमयं मनीषामुशतीमजीगः ।
अयं षळुर्वीरमिमीत धीरो न याभ्यो भुवनं कच्चनारे ॥ ३ ॥

—ऋ० ६।४७

इन्द्र मृळ मह्यं जीवातुमिच्छ चोदय धियमयसो न धाराम् ।
यत्किं चाहं त्वायुरिदं वदामि तज्जुषस्व कृधि मा देववन्तम् ॥ १० ॥

—ऋ० ६।४७

इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः । अभ्राद्वृष्टिरिवाजनि ॥ १ ॥

—ऋ०७।९४

त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः ।
गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ॥ ४ ॥

—७।७६

य उक्था केवला दधे यः सोमं धृषितापिबत् ।
यस्मै विष्णुस्त्रीणि पदा विचक्रम उपमित्रस्य धर्मभिः ॥ ३ ॥

—ऋ० ८।५२

BIBLIOGRAPHY

(1) Studies in the Philosophy of religion, by Pringle Pattison.
(2) Natural history of religion, by David Hume.
(3) Elementary forms of religious life, by Durkheim.
(4) History of Hindu Philosophy, by Prof. Radhakrishnan.
(5) Eastern Religion and Western thought, by ,,
(6) Hindu view of life, by ,,
(7) Religions of India, by Hopkins.
(8) The thresholds of religion, by Dr. Marett.
(9) Religion of the Semites, by Robertson Smith.
(10) Origin and growth of religion; as illustrated by the religions of India, by Max Mullur.
(11) S'aivism, Vais'navism and other minor religious sects. by Dr. Bhandarkar.
(12) Primitive culture, by E. B. Tylor.
(13) Golden Bough, by Sir James Frezer.
(14) The Philosophy of Hegel, by W. T. S'ace.
(15) The Decline of the West, by Oswald Spengler.
(16) Introduction to critique of Political Economy, by Karl Marx.
(17) Communist Manifesto, by Karl Marx.
(18) Hegelian philosophy of Right, by Karl Marx.
(19) Ludwig Feuerbach, by F. Engels.
(20) Anti-Dhuring, by F. Engels.
(21) Essence of christianity, by Feuerbach.
(22) From Hegel to Marx, by Sidney Hook.
(23) Introduction to Kant's philosophy, by N. Clerk.
(24) Intelligence in the Modern world philosophy, by Dewy.
(25) The Historical method in social sciences, by M. M. Postan.
(26) The History of Europe, by Fisher.
(27) Science of Religion and Reality, by Needham.
(28) Totem and Taboo, by S. Freud.
(29) The Varieties of religious experience, by William James.
(30) The education of human race, by Lessing and Herder.
(31) General Anthropology, edited by Franz Boas.
(32) Census Ethnography, India 1901-1931, by Prof. T. C. Hodson.
(33) Census of India, 1931 vol. I part III, by B. S. Guha.
(34) Encyclopaedia of Social Sciences.
(35) Heredity and Politics, by J. B. S. Haldane.

(36) We Europeans, by Julian Huxley, A. C. Haoddon, A. M. Carrsaunders.
(37) Passing of the Gods, by Calvertun.
(38) Vicissitudes of Aryan Civilization in India, by M. M Kunte

---

संदर्भ ग्रंथ

मराठी

ग्रन्थ	लेखक
गीतारहस्य	लो० तिलक
नीतिशास्त्रप्रवेश	प्रो० वामन मल्हार जोशी
धर्मरहस्य	विद्वद्रत्न केशव लक्ष्मण दफ्तरी
धर्मविवादस्वरूप	,, ,,
तात्त्विक मीमांसापद्धति	,, ,,
आमचा सनातन धर्म	श्री हरिकृष्ण मोहनी

संस्कृत

(१) ऋग्वेद
(२) अथर्व वेद,
(३) वाजसनेयी संहिता,
(४) ऐतरेय ब्राह्मण
(५) तैत्तिरीय ब्राह्मण,
(६) ताण्ड्य ब्राह्मण,
(७) शतपथ ब्राह्मण,
(८) बृहदारण्यकोपनिषत्,
(९) छान्दोग्योपनिषत्,
(१०) कठोपनिषत्,
(११) श्वेताश्वतरोपनिषत्,
(१२) कात्यायन श्रौतसूत्र,
(१३) गौतम धर्मसूत्र,
(१४) वसिष्ठ धर्मसूत्र,
(१५) कौशिकसूत्र,
(१६) मनुस्मृति,
(१७) याज्ञवल्क्य स्मृति,
(१८) वैशेषिकसूत्र,
(१९) न्यायसूत्र,
(२०) योगसूत्र,
(२१) जैमिनीयसूत्र,
(२२) ब्रह्मसूत्र,
(२३) भगवद्गीता,
(२४) महाभारत,
(२५) कौटिलीय अर्थशास्त्र,
(२६) गीताभाष्य (शंकराचार्य)
(२७) शारीर भाष्य (शंकराचार्य),
(२८) श्लोकवार्तिक (कुमारिल भट्ट)
(२९) तंत्रवार्तिक (कुमारिल भट्ट)।